शुक्ल-यजुर्वेद का सांस्कृतिक अध्ययन

इलाहाबाद वि० वि० की डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :
राजकुमार शुक्ल

अनुसंधात्री
श्रीमती सारिका सिह
सारिका सिंह
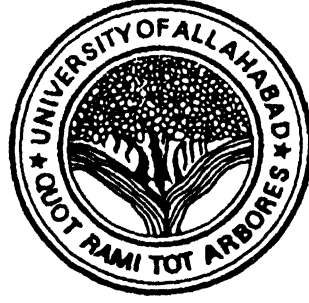
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

वर्ष २०००

प्राक्कथन

वेद के स्वरूप महत्त्व तथा सिद्धान्त से परिचय प्राप्त करना प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का प्रधानतः प्रत्येक भारतीय का नितान्त आवश्यक कर्तव्य है। वेद हमारी संस्कृति के मूल स्रोत है, हमारी सभ्यता को उच्चकोटि तक पहुँचाने वाले ग्रन्थ-रत्न हैं। वेद तो वस्तुतः एक ही प्रकार का है परन्तु स्वरूप-भेद के कारण तीन प्रकार का बतलाया जाता है ऋक्, यजुः और साम। जिन मन्त्रों में अर्थवंशात् पादों की व्यवस्था है उन छन्दोबद्ध मन्त्रों का नाम है ऋचा या ऋक् इन ऋचाओं पर जो गायन गाये जाते हैं उन गीतिरूप मन्त्रों को साम कहते हैं। जो मन्त्र ऋचाओं तथा सामों से अतिरिक्त हैं, उन्हें यजुः के नाम से पुकारते हैं। इनमें विशेषतः यागानुष्ठान के लिए विनियोग वाक्यों का समावेश किया जाता है। मन्त्रों के समूह का नाम है "संहिता" यज्ञ के अनुष्ठान को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिये इन मन्त्र संहिताओं का संकलन किया गया है। इस प्रकार मन्त्र संहितायें चार है। ऋक् संहिता, यजुः संहिता, साम संहिता तथा अथर्वसंहिता।

वैदिक साहित्य का सर्वोपरि ग्रन्थ निःसन्देह ऋग्वेद है किन्तु इसके तुरन्त बाद यदि किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का नाम लिया जा सकता है तो वह है शुक्लयजुर्वेद। याज्ञिकों के "वेदा हि यज्ञार्थमनुप्रवृत्ता" जैसे वचनों ने यह भ्रान्ति फैला दी कि वेदों का उद्देश्य केवल यज्ञ विधिपूर्ण करना है। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये वेदों में विभिन्न देवों की स्तुतियाँ उन्होंने मानीं। परन्तु शुक्लयजुर्वेद का गम्भीर अध्ययन करने पर उनमें निहित व्यापक जीवन दर्शन का ज्ञान होता है।

वेद की जीवन दृष्टि व्यक्ति परिवार, समाज, व्यापार, राजनीति, उपासना, विज्ञान, सृष्टि आदि विविध क्षेत्रों को प्रकाशित करती है । संक्षेप में इसे हम सर्वाङ्गीण दृष्टि कह सकते हैं ।

संस्कृति का क्षेत्र बहुत व्यापक है । उसके निर्माणक साधन भी अनेक है । धर्म आचार-विचार रहन-सहन, कला-कौशल, इतिहास और साहित्य आदि अनेक साधनों के समन्वय से संस्कृति का निर्माण हुआ । सामान्यतः किसी भी राष्ट्र तथा जाति की चेतना तथा आधारभूमि का पता लगाने के लिये उसके वर्तमान को तो देखना ही होता है, इसके साथ ही उसके अतीत की भी खोज करनी होती है । इसके साथ ही उसके अतीत की भी खोज करनी होती है । उसके इस दृष्टि से किसी भी राष्ट्रीय जीवन के दो पक्ष हमारे सामने प्रकट होते हैं, एक बाहरी और दूसरा भीतरी । उसके दोनों पक्षों का विश्लेषण करने पर ही उसके वर्तमान तथा अतीत की उपलब्धियों का सम्यक दर्शन किया जा सकता है । बाहरी उपलब्धियाँ उसका भौतिक पक्ष और भीतरी उपलब्धियां आध्यात्मिक पक्ष है । इन दोनों में भीतरी पक्ष प्रमुख होता है जिसकी छाया ही उसका बाह्य पक्ष है । इस प्रकार संस्कृति के दो रूप हैं । बाह्य संस्कृति और स्थूल संस्कृति । जिसे आज भारतीय संस्कृति कहा जाता है, अपने मूल रूप में वही वैदिक संस्कृति है । हमारे राष्ट्रीय जीवन में युगों-युगों से जिन मानवीय आदर्शों की रक्षा होती गयी और जिनके आधार पर इस राष्ट्र ने अपना सर्वाङ्गीण विकास किया उनकी जानकारी प्राप्त किये बिना भारतीय संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना जा सकता है । इन महान आदर्शों से मण्डित वैदिक संस्कृति की समस्त विशेषताओं को सहज रूप में इस शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है । शुक्ल-यजुर्वेद से तो केवल

कर्मकाण्ड के प्रासंगिक संदर्भ ही उद्धृत किये जाते रहे हैं । प्रस्तुत कृति में यज्ञों के स्वरूप को श्रृंखलाबद्ध करते हुये तत्कालीन धार्मिक जीवन पर प्रकाश डाला गया है । सृष्टिविद्या एवं संवत्सर-विज्ञान नामक अध्याय में तत्सम्बन्धी जिज्ञासाओं के उपशमन हेतु पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है । पशु-पक्षी तथा वनस्पति जगत नामक अध्याय में तत्कालीन पशु-पक्षी की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है । संस्कृति सामाजिक जीवन की ही अभिव्यंजना है अतः शुक्लयजुर्वेद में वर्णित समाज तथा तत्सम्बन्धी विविध पक्षों का समावेश भी प्रस्तुत कृति में किया गया है । वैदिक जीवन दृष्टि में आचार का सर्वाधिक महत्त्व है यह आचार व्यक्ति को इहलोक तथा परलोक के लिये शुद्ध करता है । इसका विस्तृत विवेचन आचार तथा संस्कार नामक अध्याय में किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में वैदिक राष्ट्र तथा राष्ट्रीय जीवन की रूपरेखा को इस ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जिससे कि अध्येता के समक्ष तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी परिस्थितियां स्वतः ही स्पष्ट हो जाएं ।

सम्माननीय गुरुवर्य शोध निदेशक डा० राज कुमार शुक्ला को मैं सर्वाधिक आभारी हूँ जिन्होंने शोध-विषय की सद्यः उदार अनुमति प्रदान कर मेरे अध्ययन मार्ग को सरल बनाया तथा जिनके अनुभवपूर्ण निर्देशन के कारण इस शोधकृति का प्रणयन हो सका ।

आदरणीय गुरुदेव डा० विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने अध्यापनकाल में वेदों में आस्था उत्पन्न कर गवेषणापूर्ण दृष्टि प्रदान की शोधकार्य के पंजीकरण में मुख्यरूप से सहायता करने वाले पूज्य माता-पिता प्रमुखरूपेण

स्मरणीय हैं । स्नातकोत्तर की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मेरी पूज्या माँ ने ही मेरे पति को मुझे शोध-कार्य में प्रवृत्त करने के लिये प्रेरित किया और मेरे पति श्री हृदय नाथ सिंह ने उनके प्रस्ताव का अनुमोदन करके मुझे आगे अध्ययन जारी रखने की अनुमति दी । अतः मैं अपनी माता श्रीमती सुशीला सिंह की आभारी हूँ । मेरे श्वसुर-पक्ष का योगदान भी इसमें पर्याप्त रहा, जहाँ मुझे अध्ययन और शोध-प्रबन्ध को पूरा करने के लिये पूर्ण सुविधायें मिलीं, "सबका" स्नेह मिला और आशीर्वाद भी । श्री जय सिंह भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अत्यन्त तत्परता के साथ पाण्डुलिपि टंकित कर शोध-प्रबन्ध को अविलम्ब समाप्ति हेतु सहयोग प्रदान किया । शुक्लयजुर्वेद में मानव को "अनृत" इसीलिये कहा गया है कि त्रुटि करना उसका स्वाभाविक दोष है । मेरे प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में भी त्रुटियां स्वाभाविक हैं, अतः मैं अपनी उन त्रुटियों के लिये सम्माननीय गुरुजनों के समक्ष क्षमाप्रार्थिनी हूँ ।

यजुर्वेद संहिता -

"आध्वर्यव" कर्म के लिये उपादेय यजुर्वेद में यजुओं का संग्रह है । यजुष शब्द का अर्थ है पूजा एवं यज्ञ । जिस प्रकार ऋग्वेद के मंत्रों का विषय देवताओं का आवाहन (बुलाना) एवं आराधन करता है उसी प्रकार यजुर्वेद के मंत्रों का विषय यज्ञ-विधियों को सम्पन्न करना है । किस यज्ञ में किन-किन मंत्रों का प्रयोग करना चाहिये इसका विधान भी यजुर्वेद में निर्दिष्ट है । यज्ञ अनेक प्रकार के हैं । यज्ञों का अनुष्ठान देवताओं की प्रसन्नता के लिये बताया गया है । देवता प्रसन्न होकर सुवृष्टि करते हैं जिससे धन-धान्य में वृद्धि होती है और प्रजा सुख का जीवन व्यतीत करती है । यजुर्वेद के दो विभाग हैं- कृष्ण और शुक्ल । इनमें छन्दोबद्ध मंत्र और गद्यात्मक विनियोग है । महीधर भाष्य में यजुर्वेद की कृष्ण-शुक्ल शाखाओं के नामकरण के सम्बन्ध में कहा गया है कि बुद्धि की मलिनता से यजुओं का रंग काला पड़ जाने के कारण यजुर्वेद की एक शाखा का नाम कृष्ण पड़ा । उधर सूर्य की तपस्या के वरदान-स्वरूप योगिराज याज्ञवल्क्य ने "शुक्ल" यजुओं को प्राप्त किया जिससे यजुर्वेद की दूसरी शाखा का नाम शुक्ल पड़ा । सूर्य द्वारा याज्ञवल्क्य को दिन में ज्ञान प्राप्त होने के कारण संभवतः उसको शुक्ल कहा गया । यजुर्वेद के उक्त दोनों विभागों की लगभग एक सौ एक शाखाएं बतायी जाती हैं । मीमांसा-भाष्य (1. 1. 30) वायु-पुराण (61. 5-10) और ब्रह्मांड पुराण (34, 2-13) में कृष्ण यजुर्वेद की छियासी शाखाओं का उल्लेख हुआ है । कृष्ण यजुर्वेद के चरक सम्प्रदाय की अकेले बारह उप-शाखाएँ थीं । इन दोनों विभागों की सम्प्रति केवल पाँच शाखाएँ उपलब्ध हैं । उनके नाम हैं - तैत्तिरीय मैत्रायणी कठ, माध्यन्दिन और काण्व । आरम्भ की तीन शाखाएं कृष्ण यजुर्वेद की और अन्त की दो शुक्ल यजुर्वेद की है ।

याज्ञवल्क्य के पन्द्रह शिष्यों द्वारा इन उपशाखाओं का निर्माण एवं प्रवर्तन हुआ । वाजसनेयि पुत्र याज्ञवल्क्य द्वारा दृष्ट होने के कारण शुक्ल यजुओं की इस संहिता का नाम "वाजसनेयि" पड़ा । एक ऐसी भी अनुश्रुति है कि वाजी (घोड़े) का रूप धारण कर याज्ञवल्क्य को वर रूप में जो उपदेश प्राप्त हुआ था, उसी के कारण इस संहिता का ऐसा नाम पड़ा । संहिता रूप में प्राप्त ज्ञान को याज्ञवल्क्य ने अपने जाबाल आदि पन्द्रह शिष्यों को दिया था । उनमें माध्यन्दिन प्रमुख थे । वाजसनेयि शाखा की माध्यन्दिन संहिता ही सम्प्रति उपलब्ध है । कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं का दक्षिण भारत में और शुक्ल यजुर्वेद की शाखाओं का उत्तर भारत में अधिक महत्व है । शुक्लयजुर्वेद की मन्त्र संहिता "वाजसनेयि संहिता के नाम से विख्यात है जिसमें 40 अध्याय हैं । प्रस्तुत शोध-प्रबंन्ध का मूल आधार वाजसनेयि संहिता ही है ।

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

*****

धर्म एवं धार्मिक आस्थाएँ

वैदिक आर्यों की एक धर्म प्रधान परम्परा थी । उनका देवताओं की सत्ता प्रभाव तथा व्यापकता में दृढ़ विश्वास था । यज्ञ की संस्था उनके धर्म का एक विशिष्ट अंग थी । धर्म शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है जहाँ धर्म का अर्थ जगन्निर्वाहक नियमों का समूह है -

"यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः
तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्"[1]

शुक्ल यजुर्वेद में ऋत (जगद्-विषयक शाश्वत नियम) के व्यवस्थापक वरुण देवता को "धर्मपति" विशेषण द्वारा अभिहित किया गया है -

"वरुणो धर्मपतीनाम्"[2]

महाभारतकार ने धर्म की परिभाषा देते हुये कहा है कि धारण गुण से संयुक्त होने के कारण ही धर्म को धर्म कहा जाता है -

"धारणाद्धर्म इत्याहुः"[3]

धर्म प्रत्येक संस्कृति का अंग है । विश्व के किसी भी धर्म के दो पक्ष होते हैं । प्रथम तत्व चिन्तन तथा द्वितीय कर्मकाण्ड । धर्म के ये दोनों पहलू समरूपेण महत्वपूर्ण हैं । शुक्लयजुर्वेद मुख्यतः कर्मकाण्डीय ग्रन्थ है । अतः शुक्लयजुर्वेद के सांस्कृतिक अध्ययन के इस ग्रन्थ में धर्म एवं आस्थाओं के स्वरूप का समावेश होना आवश्यक है । धर्म

1- ऋग्वेद 1.164.50
2- शुक्लयजुर्वेद 9.39
3- महाभारत शान्तिपर्व 109.11

अत्यन्त गूढ़ है । महाभारत ने धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम् के उद्घोष द्वारा धर्म की इस निगूढता एवं गुह्यता की ओर ही संकेत किया है । मार्कण्डेय पुराण भी कहता है -

"प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्विविधं कर्म वैदिकम्"[1]

जैमिनि ने मीमांसा दर्शन के प्रारम्भ में ही "अथातो धर्म जिज्ञासा द्वारा धर्म की परिभाषा का प्रश्न उठाते हुये कहा है -

"य एव श्रेयस्कर स एव धर्म शब्देनोच्यते"

पुनः वे कहते हैं कि यज्ञ के अनुष्ठान करने की जिससे प्रेरणा मिले वही धर्म है । पाश्चात्य विद्वानों ने धर्म को मानव तथा परमात्मा को मिलाने वाली कड़ी रहस्यमय शक्ति के साथ भावनात्मक बंधन, नैतिकता का दूसरा नाम तथा अदृश्य शक्तियों की आवश्यकतावश पूजा आदि परिभाषायें दी हैं । आधारभूत दृष्टि से धर्म का शाश्वत् महत्त्व होते हुए भी व्यवहार पक्ष की दृष्टि से प्रत्येक युग में धर्म के किसी विशेष पक्ष या अंग का प्राधान्य रहा है । मनु ने भी इसीलिये विभिन्न युगों में क्रमशः तप, ज्ञान, यज्ञ तथा दान को युग-धर्म के रूप में घोषित किया है ।

"अन्ये कृतयुगे धर्मस्त्रेतायां द्वापरेऽपरे
अन्ये कलियुगे नृणां युग ह्रासानुरूपतः
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे"[2]

1- मार्कण्डेय पुराण 45.1

2- मनुस्मृति 1.85.86

शुक्लयजुर्वेद में धर्म के रूप में यज्ञ ही विशेषतया प्रतिष्ठित है । शतपथ के समय भी यज्ञ व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन व्यवस्था का स्थापक आधारभूत कर्म था अतः कहा गया है -

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म

शुक्लयजुर्वेद में मुख्यतः यज्ञ के कर्मकाण्डीय पक्ष का ही विवेचन है ।

यज्ञ का सैद्धांतिक विवेचन -

शतपथ की विचारधारा के अनुसार यज्ञ का द्विविध रूप है प्राकृत एवं कृत्रिम । प्राकृत यज्ञ प्रकृति में निरन्तर चल रहा है । उसी का अनुसरण कर कृत्रिम यज्ञ विहित हुआ है ।

देवान् अनुविधा वै मनुष्याः यद् देवा अकुर्वन तदहं करवाणि

यज्ञमूलक प्रस्तुत सिद्धान्त शतपथ मे कुरु पांचाल देशीय आरुणि उद्दालक के उपाख्यान में मिलता है । कृत्रिम यज्ञ की परिभाषा निम्न रूप में निरुक्त में दी गई है-

"यज्ञः कस्मात् । प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः याच्ञो भवतीति वा । यजुरुन्नो यजूष्येनं नयन्तीति वा"[1]

अर्थात् यजनार्थक होने के कारण, फल विशेष की कामना के लिए किये जाने के कारण यजुर्मन्त्रों से क्लिन्न होने के कारण बहुकृष्णाजिन सम्पन्न होने के कारण तथा यजुर्मन्त्रों द्वारा सफल होने के कारण यज्ञ कहा जाता है । प्रस्तुत परिभाषा कृत्रिम यज्ञ की अत्यंत सार्थक परिभाषा है । किन्तु स्वयं शतपथ में प्रदत्त यज्ञ की निर्वचनात्मक परिभाषा अपने व्यापक परिवेश में यज्ञ के उक्त द्विविध रूपों को ग्रहण

1- निरुक्त 3.4

कर लेती है -

"अथ यस्माद्यज्ञों नाम । घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तद्यदेनं तन्वते तदेनं जनयन्ति स जायमानो जायते स यन्जायते तस्माद्यन्जायन्ज्ञों ह वै नामैतद्यद्यज्ञ इति"[1]

अर्थात् जब इसे कुचलते हैं तो इसे मारते हैं जब इसे फैलाते हैं तो उत्पन्न करते हैं । यह विस्तारित किया जाता हुआ उत्पन्न होता है अतः यन् जायते से यज्ञ नाम पड़ा । शुक्ल यजुर्वेद में भी यज्ञ को आत्मा कहा गया है ।

"यज्ञों वा आतात्मो यज्ञ ही तन्यते"[2]

निष्कर्षतः भौतिक यज्ञ सूक्ष्म यज्ञ का प्रतीक मात्र है । स्थूल द्वारा सूक्ष्म तक सुगमता से पहुँचा जा सकता है । अतः भौतिक यज्ञ की पूर्ण प्रक्रिया का अवगाहन कर उन प्रक्रियायों के प्रतीकार्थ जान लेने पर वैदिक ऋषियों द्वारा चिंतित प्राकृत विज्ञान को समझ लेना सरल हो जाता है । वैज्ञानिक दृष्टि से अग्नि में सोम की आहुति यज्ञ है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जगत् अग्निषोमात्मक है । सोम अन्न है तथा अग्नि अन्नाद अग्नि रूपी अन्नाद् सोम रूपी अन्न की आहुति ग्रहण करता रहता है । यही क्रिया जगत् में सतत् विद्यमान् है । जठराग्नि में वैश्वानर अग्नि हैं जिसे हम सुबह शाम अन्नाहुति देते हैं गीता में कहा गया है -

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्"[3]

शुक्लयजुर्वेद में यज्ञ को पांक्त भी कहा गया है । कुछ विद्वान् देवता हविर्द्रव्य मन्त्र ऋत्विक तथा दक्षिणा रूप यज्ञ के पाँच अंग होने के कारण यज्ञ का पांक्त नामकरण

1- शतपथ 3. 9. 4. 23

2- शुक्लयजुर्वेद 6. 12

3- गीता - 15. 14

मानते हैं । शतपथ यज्ञ को देवों की आत्मा कहता है -

"यज्ञों वै देवानामात्मा"[1]

निरुक्तकार भी जब यह उल्लेख करता है कि वाणी का पुष्प यज्ञ है तथा फल देवता तो इसी तथ्य की ओर इंगित करता है । शतपथ का प्रस्तुत कथन यज्ञ के दिव्यत्व को लक्षित करता है । अतः यह भी कहा गया है कि मानवीय कार्य यज्ञ के लिये नाशकारक है मानवीय कार्यों से तात्पर्य यहाँ अनृत कार्यों से है । शुक्ल यजुर्वेद में मनुष्य को अमेध्य व अनृत माना गया है ।

"इदम अहम् अनृतात्सत्यमुपैमि"[2]

अब मैं यज्ञ के द्वारा असत्य से सत्य को प्राप्त हो गया हूँ । अतः यज्ञ मनुष्य को दिव्य प्रवृत्तियों की ओर ले जाने का साधन है । शतपथ प्रदत्त यज्ञ की परिभाषा के अनुसार श्रम का विस्तार ही जीवन है तथा श्रम के कुचलना मृत्यु । अतः स्पष्ट है कि यज्ञ के सिद्धान्त को अधिगम्य बनाने के लिये यज्ञ की उपरोक्त परिभाषा अत्यंत सार्थक व्यापक व्यंजनापूर्ण है ।

याज्ञिक अनुष्ठान -

शुक्लयजुर्वेद की संरचना का सर्वाधीण हेतु "यज्ञ" होते हुये भी यह यज्ञ संस्था के क्रमिक स्वरूप का परिचायक ग्रन्थ नहीं है । शुक्लयजुर्वेद में विभिन्न यज्ञों उनके मूल प्रयोजनों एवं यज्ञीय उपकरणों आदि का प्रासंगिक वर्णन मिलता है । अतः शुक्लयजुर्वेदीय यज्ञानुष्ठानों की विवेचना से पूर्व यज्ञ संस्था के स्वरूप को समझना अत्यावश्यक है । वेदों में प्रज्जवलित अग्नि में विभिन्न देवों के निमित्त हविष्य अथवा सोमरस की आहुति ही यज्ञ है । यज्ञाग्नि के दो स्वरूप है । इन अग्नियों

1- शतपथ 9. 3. 2. 7

2- शुक्लयजुर्वेद - 1. 5 ।

में किये गये यज्ञ क्रमशः गृह्य एवं श्रौत यज्ञ कहलाते हैं ।

गृह्य यज्ञ -

गृह्य यज्ञ श्रौत यज्ञों की अपेक्षा सरल है । उपनीत व्यक्ति ही इन यज्ञों को करने का अधिकारी है । प्रत्येक विवाहित व्यक्ति के लिये गृह्य यज्ञ करने का आदेश है । गृह्य-यज्ञों को पाक-यज्ञ अथवा हौत्र भी कहा जाता है औपासन होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका मासिक श्राद्ध श्रवणा तथा शूलगव ये सात गृह्य यज्ञ के अवान्तर प्रकार हैं शुक्लयजुर्वेद में यद्यपि इन अवान्तर प्रकारों में से कई का उल्लेख मिलता है किन्तु मूलतः शुक्ल यजुर्वेद का सम्बन्ध श्रौत यज्ञों से है ।

श्रौत यज्ञ -

विधिपूर्वक दीक्षा लेने के उपरान्त ही मनुष्य श्रौत यज्ञ का अधिकारी बनता है । अधिकारी व्यक्ति के लिये अग्न्याधान करना आवश्यक है जो पच्चीस से लेकर चालीस वर्ष तक की उम्र वाले सपत्नीक व्यक्ति ही कर सकते हैं । श्रौत अग्नि के तीन स्वरूप शुक्लयजुर्वेद में दृष्टिगोचर होते हैं -

1- गार्हपत्य

2- आहवनीय

3- दक्षिणाग्नि

उक्त अग्नियों में नाना होम द्रव्यों आज्य पृषदाज्य, पुरोडाश, चरु सोम, सान्नय आमिक्षा, वाजिन, करम्भ, मन्थ धाना आदि का प्रक्षेपण श्रौत यज्ञ कहलाता है । श्रौत यज्ञ के दो भेद है हवि संस्था तथा सोम संस्था । शुक्लयजुर्वेद का प्रारम्भ हविर्यज्ञों की विधियों से होता है । हविर्यज्ञ जिसे इष्टि भी कहते हैं के सात प्रकार हैं - अग्निहोत्र 2- अग्न्याधान 3-दर्श 4- पौर्णमास 5- आग्रयण 6- चातुर्मास्य 7- पशुबन्ध । उक्त हविर्यज्ञों में अग्निहोत्र प्रकृति यज्ञ है । श्रौत - यज्ञ की सोम संस्था के भी सात अवान्तर भेद हैं -

1- अग्निष्टोम 2- उक्थ्य 3- षोडशी 4- अतिरात्र 5- अत्याग्निष्टोम 6- वाजपेय 7- आप्तोर्याम । सोम यज्ञों में त्रिविध अग्नि गार्हपत्य दक्षिण एवं आहवनीय अनिवार्य है । इन यज्ञों में अग्नि में सोम रस की आहुति दी जाती थी । सोम का त्रिषवण होता है । प्रातः सवन माध्यंदिन सवन तथा सायं सवन । अग्निष्टोम अन्य सोम यज्ञों की प्रकृति है । उक्त श्रौत यज्ञों के अतिरिक्त शुक्लयजुर्वेद में प्रवर्ग्य, अग्निचयन, राजसूय अश्वमेध पुरुषमेध आदि अवान्तर यज्ञों का भी वर्णन मिलता है ।

अग्न्याधान -

शुक्लयजुर्वेद के तीसरे अध्याय के प्रथम आठ मन्त्रों मे अग्न्याधान का निरूपित किया गया है । अग्न्याधान का संक्षिप्त विवरण शुक्लयजुर्वेद में किया गया है लेकिन इसका विस्तार हमें शतपथ ब्राह्मण से प्राप्त होता है । सर्वप्रथम जल, सुवर्ण, ऊष (नमक) आखुकरीष (चूहों द्वारा निकाली गयी मिट्टी तथा शर्करा (कंकड़) इन पाँचों संभारो का संभरण किया जाता है यह इस यज्ञ की प्रारम्भिक तैयारी है । शतपथ मे उपाख्यान है कि देव तथा असुर जब यश-प्राप्ति हेतु स्पर्धा कर रहे थे तो वायु द्वारा उद्वेलित यह पृथ्वी कमल पत्र के समान काँप रही थी । यह कभी देवों के पास जाती कभी असुरों के पास । जब यह देवों के पास गयी तो उन्होंने दोनों अग्नियों का आधान कर इसे अचल एवं दृढ़ बना लिया यही अग्न्याधेयं का अग्न्याधेयत्व है ।[1] पृथ्वी रूपी वेदी में इन अग्नियों का आधान किया जाता है -

---

1- शतपथ - 2. 1. 1. 8 ।

"समिधाग्नि दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् अस्मिहव्या जुहोतन"[1]

अर्थात् हे ऋत्विजादि समिधा के द्वारा अग्नि को परिचरित करो इस अतिथिभूत अग्नि को घृत की आहुतियों से प्रज्जवलित करो । प्रज्वलित अग्नि में विविध चरु पुरोडाशादि हव्यों को होम करो । शतपथ के अनुसार कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा फाल्गुनी हस्त एवं चित्रा नक्षत्रों में अग्नि का आधान करना चाहिये । वस्तुतः वैशाख मास की अमावस्या को अग्नि का आधान करना चाहिये क्यों कि यह अमावस्या रोहिणी नक्षत्र में पड़ती है । अग्न्याधेय का रूप अमावस्या ही है । इस यज्ञ में अग्नि, पवमान, अग्नि पावक, अग्नि शुचि तथा अहिताग्नि आदि अग्नि के विविध रूप निर्धारित हैं जिनके लिये यजमान अग्नि में आहुति देता है ।

"तं त्वा समिद्भि रङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि बृहच्छोचा यविष्ठ्य"[2]

हे अग्नि हम तुम्हें समिधाओं एवं घृताहुतियों द्वारा प्रवृद्ध करते हैं । तुम सर्वदा तरुण रहने वाले हो इस लिये वृद्धि को प्राप्त होते हुये प्रदीप्ति धारण करो । मूलतः इस यज्ञ का प्रयोजन शत्रु विजयिनी शक्ति एवं अमरत्व प्राप्त करना है ।

अग्निहोत्र -

शुक्लयजुर्वेद में अग्निहोत्र यज्ञ का निरूपण तीसरे अध्याय के ग्यारहवें मन्त्र से प्रारम्भ होता है । प्रातः सायं अग्नि मे दूध की आहुति देकर किया जाने वाला यज्ञ अग्निहात्र है । इस यज्ञ को प्रातः सूर्योदय से पूर्व तथा सायंकाल सूर्यास्त के बाद सम्पन्न कर लेना चाहिये । सायंकाल की आहुति इस मन्त्र से दी जाती है -

---

1- शुक्लयजुर्वेद- 3. 1

2- शुक्लयजुर्वेद -, 3, 4

"अग्निर्ज्योति ज्योतिरग्नि स्वाहा"[1]

और प्रातःकाल इस मन्त्र से आहुति देते हैं -

"सूर्योज्योर्ति ज्योर्तिरग्नि स्वाहा"[2]

अग्निहोत्र करने वाले के घर सब देवता पहुँच जाते हैं । सूर्यास्त होने पर दी गई आहुतियाँ इन सभी प्रवेश किये हुये देवताओं को मिल जाती है तथा सूर्योदय से पूर्व आहुति देने का यह प्रयोजन है कि देवों को निर्गमन से पूर्व आहुति दे दी जाए । अतः आचार्य आसुरि का कथन है कि सूर्योदय के पश्चात् आहुति देने वाले का अग्नि होत्र व्यर्थ जोता था इसलिये शतपथ में सूर्य को ही अग्निहोत्र कहा गया है-

"सूर्यो ह वाऽग्निहोत्रम"[3]

विजय लाभ स्वर्गलोक प्राप्ति एवं प्रजोत्पत्ति अग्निहोत्र के प्रयोजन है ।

पिण्डपितृ यज्ञ -

शुक्लयजुर्वेद के दूसरे अध्याय के अंतिम पाँच मन्त्रों में पिण्डपितृयज्ञ का निरूपण है । पितरों के लिये किया गया यज्ञ पिण्डपितृयज्ञ कहलाता है । पृथक् इकाई के रूप में इस यज्ञ का होना यह प्रमाणित करता है कि तत्कालीन आर्यों की दृष्टि में पितरों एवं देवों के प्र ति दो पृथक भाव थे । प्रकृति से गृह्य यज्ञ होते हुये भी यह शुक्लयजुर्वेद के श्रौतयज्ञों में वर्णित है किन्तु प्रक्रिया में अन्तर नहीं है । इसमें प्रतिमास अमावस्या के दिन पितरों को भोजन देने का विधान है जिसका नियमन प्रजापति ने किया था । शतपथ में वर्णित है कि जीवन व्यतीत

1- शुक्लयजुर्वेद - 3. 9

2- शुक्लयजुर्वेद - 3. 9

3- शतपथ- 2. 3. 1. 1

करने की विधि पूछने एक बार समस्त प्राणी प्रजापति के पास गये । प्रजापति ने देवों को यज्ञ रूपी अन्न अमृतत्व रूपी बल एवं सूर्य रूपी ज्योति दी । पितरों को मासिक भोजन, अन्न, मनोजव, स्वधा चन्द्रमा रूपी ज्योति तथा मनुष्यों को प्रातः सायं भोजन मृत्यु रूपी प्रजा तथा अग्नि रूपी ज्योति प्रदान की । इसलिये अमावस्या के दिन जब पूर्व और पश्चिम में चन्द्रमा दृष्टिगत नहीं होता है तब पितरों को भोजन दिया जाता है । चन्द्रमा की स्थिति में पितरों को भोजन देने पर देवों तथा पितरों में झगड़ा होने की संभावना रहती है । अपराह्न में उन्हें भोजन देना चाहिये क्यों कि पूर्वाह्न तथा माध्यंदिन क्रमशः देवों तथा मनुष्यों के है तथा अपराह्न पितरों का । अन्वाहार्य पचन (दक्षिणाग्नि) के उत्तर की ओर दक्षिणाभिमुख होकर यजमान चावल पटकता है । उन चावलों को पकाते समय ही उनमें घी छोड़ा जाता है । अग्नि और सोम के लिये उस हविष्य की आहुति दी जाती है । अग्नि का भाग तो प्रत्येक यज्ञ का अनिवार्य अंग है किन्तु सोम को आहुति देने के कारण सोम का पितरों से सम्बद्ध है । पितरों को हवि पहुँचाने के कारण प्रस्तुत यज्ञ का अग्नि "कव्यवाहन" कहलाता है-

"अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा"[1]

पितृजनों के कव्यं को वहन करने समर्थ अग्नि के लिये यह आहुति है । पितृयुक्त सोम के लिये यह आहुति है । पिण्डपितृयज्ञ को करने वाला ब्रह्मतेज से समन्वित होता है । पितर् घरों के रक्षक है । अतः "गृहान्नः पितरो दत्त"[2] मन्त्र के द्वारा यजमान अपने पितरों से आशीर्वाद चाहता है । निष्कर्षतः इस यज्ञ में फलप्राप्ति की अपेक्षा पूर्वजों के प्रति श्रद्धा का भाव ही प्रेरक तत्व है । अतः इसे निष्काम यज्ञ कहा

1- शुक्लयजुर्वेद-2.29 ।
2- शुक्लयजुर्वेद- 2.32 ।

जा सकता है ।

चातुर्मास्य -

शुक्लयजुर्वेद के तीसरे अध्याय में चातुर्मास्य यज्ञ का वर्णन है इसका विस्तार से वर्णन हमें शतपथ ब्राह्मण से प्राप्त होता है । चातुर्मास्य जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है । प्रति चारमास में अनुष्ठेय होने के कारण "पर्व वाला यज्ञ" है । वैश्वदेव वरुण प्रधास, साकमेध तथा शुनासीरीय इसके चार पर्व है । इन पर्वों का क्रमशः फाल्गुनी पूर्णिमा, आषाढ़ी पूर्णिमा, कार्तिकी पूर्णिमा तथा फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को अनुष्ठान किया जाता था । वैश्वदेव यज्ञ के द्वारा प्रजापति ने अन्नाभाव में पुनः - पुनः नष्ट होने जाने वाली प्रजा के लिये दूध रूपी अन्न प्राप्त किया । अतः जो प्रजा की कामना करता है वह वैश्वदेव हवि से यज्ञ करता है । वैश्वदेव यज्ञ में अग्नि सोम सविता, पूषा, सरस्वती, तथा मरुतों के लिये आठ या बारह कपाल पुरोडाश, चरु, पयस्या एवं वाजिन की हवियाँ निर्देशित है । पहलौटी गौ इस यज्ञ की दक्षिणा है । वैश्वदेव यज्ञ करने वाला राजा तथा नेता अग्नि की सहायता से चारों मासों को जीत लेता है स्वयं अग्निरूप होकर अग्नि के सायुज्य एवं सालोक्य को प्राप्त होता है । पुनः साक-मेध यज्ञ किया जाता है साकमेध आहुतियों के द्वारा देवों ने वृत्र को मारा था तथा उस सुख को प्राप्त किया था अतः उस सुख को प्राप्त किया था जिसका सुख वह वर्तमान में भोग रही है । इस प्रकार साकमेध याजी यजमान अपने शत्रुओं तथा अहितैषियों को नष्ट कर कर देता है । तत्पश्चात् महा हवि नामक कर्म किया जाता है । इस महाहवि में इन्द्र अग्नि तथा सविता के लिये आठ या बारह कपालों में पुरोडाश समर्पित किये जाते हैं तथा सोम सरस्वती तथा पूषा के लिये चरु।

उक्त महाहवि के द्वारा देवों ने वृत्र को मारकर विजय प्राप्त की । संग्राम में जो वीर मारे गये थे तथा जो वाण-विद्ध हुये थे उन्हें जिलाने तथा उनके बाण निकालने हेतु क्रमशः पितृयज्ञ तथा त्र्यम्बक यज्ञ करने का विधान है । जो साकमेध के अंगयाग है । पितृयज्ञ का वर्णन पहले हो चुका है । त्र्यम्बक यज्ञ रुद्र के लिये किया जाता है । इसमें रुद्र के लिये एक कपाल पुरोडाश निर्मित करने का विधान है -

"अव रुद्रमदीमह्यम् देवं त्र्यम्बकम् यथा नो वस्यवस्करयथा नः श्रेयसस्करयथा नो व्यवसाययात्"[1]

अर्थात् त्र्यम्बक रुद्रदेव को पृथक करके भोजनं कराते हैं कि प्रसन्न होकर वह हमें बढ़कर बसने वाला बनावे बढ़कर हमें यश वाला बनावे । हमारे सब कार्यों को पार लगावें । चूहा रुद्र का पशु है -

"एज ते रुद्र भाग आखुस्ते पशु"[2]

अतः इस यज्ञ में रुद्र को बहन अम्बिका तथा चूहा भी पुरोडाश का भाग ग्रहण करते हैं । कुमारी कन्यायें वेदि के चारों ओर परिक्रमा करती है । भाग्य की अधिष्ठात्री अम्बिका उन कन्याओं का भाग्य जगाती हैं । इस प्रकार इस चार्तुमास्य यज्ञ को सम्पन्न कर घर जाकर यजमान पौणमास यज्ञ करता है । चातुर्मास्य के उक्त तीन पर्वों के द्वारा देवें को जिस श्री की प्राप्ति हुयी थी वह "शुनम्" कहलाती है तथा प्राप्त हुये संवत्सर का रस "सीर" है उक्त "श्री" एवं "रस" को ग्रहण कर वशवर्ती बनाने के लिये शुनासीर यज्ञ किया जाता है जो चातुर्मास्य की पूर्णाहुति सदृश है । इस यज्ञ में उत्तर वेदी की रचना पृषद आज्य की आहुति एवं अग्नि मंथन का निषेध किया गया है । साकमेध यज्ञ करने वाले के लिये शुनासीर यज्ञ अवश्य करणीय है । इस प्रकार चातुर्मास्य यज्ञ सम्पूर्ण संवत्सर को संचलित करता है ।

1- शु०य० -3.58

2- " - 3.57

दर्शपूर्णमास -

दर्शपूर्णमास का समग्र प्रयोजन वैदिक साहित्य में केवल शतपथ में ही वर्णित है । समस्त इष्टियागों की प्रकृतिस्वरूप यह यज्ञ क्रमशः अमावस्या तथा पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता है । दर्श में आग्नेय पुरोडाशयाग, इन्द्र देवताक दधिद्रव्यकयाग तथा इन्द्रदेवताक, पयोद्रव्ययाग ये तीन याग होते हैं तथा पौर्णमास यज्ञ में अग्निदेवताक अष्टकपालपुरोडाशयाग अग्निषोमीय आज्यद्रव्यक, उपांशुयाग तथा अग्निषोमीय एकादशकपालपुरोडाशयाग ये तीन याग हैं । पूर्णमास यज्ञ की हवियाँ चन्द्रमा रूप वृत्र को मारने वाली हैं तथा अमावस की हवियाँ साक्षात् वृत्र हत्या है । अतः इस यज्ञ का मूल प्रयोजन शत्रु नाश तथा प्रजाप्राप्ति है । इस यज्ञ से पहले दिन उपवास रखने का विधान है जिसके बारे में शतपथ में आषाढ़ सावयस एवं याज्ञवल्क्य के मतभेदों का उल्लेख किया गया है । जल का स्पर्श करना तथा

"अग्ने व्रतपते व्रतः चरिष्यामि"[1]

मन्त्र द्वारा सत्य बोलने का व्रत लेना तथा रात्रि में अग्नियों के पास भूमि पर सोना शतपथ के अनुसार इस यज्ञ की पूर्ण विधियाँ है । तथा सूप अग्निहोत्रहवणी, स्पन्य,कपाल, शमी कृष्णमृगचर्म, ऊखल, मूसल, दृषद तथा उपल में दस यज्ञ के उपकरण संग्रहणीय हैं । वेदी में अग्नि प्रज्वलित करते समय ग्यारह सामिधेनी मन्त्रों के पढ़ने की विधि का निर्देश किया गया है । अग्नि प्रज्वलित होने पर सबसे पहले मनु तथा वाणी के लिये आहुतियाँ दी जाती हैं । देवों ने इन्द्र अग्नि अश्विन तथा सरस्वती के लिये इस यज्ञ को समक्ष {पुरो} रखा {अदाशयत् नाम पुरोडाश पड़ा -

---

1- शुक्लयजुर्वेद - 1.8 ।

"स वाऽएभ्यस्तत्पुरोऽदाशयत् । य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयतस्मात्पुरोदाशः पुरोदाशो ह वै नामैतयत्पुरोडाश इति"[1]

पुरोडाश की उक्त निरुक्ति के अनुसार दर्श और पूर्णमास दोनों यज्ञों में अग्नि के लिये आठ कपालों वाला पुरोडाश आवश्यक है क्योंकि अग्नि ही सर्व देवता है । वह सर्वाधिक फल देने वाला है । दर्शपौर्णमास यज्ञ अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्यों की भाँति पर्व है । प्रजा उत्पन्न करने के बाद प्रजापति शिथिलांग हो गया उसके पर्व-पर्व दुखने लगे अग्निहोत्र के द्वारा यजमान प्रजापति को प्रातः सायं रूप संधियों का तथा चातुर्मास्य के द्वारा ऋतु रूप संधियों का उपचार करता है । उसी प्रकार दर्शपौर्णमास यज्ञ के द्वारा उसकी पाक्षिक संधियों का उपचार करके परम पुण्य को प्राप्त करता है । सृष्टि सर्जनोपरान्त प्रजापति के शिथिलावयव होने सम्बन्धी प्रस्तुत शतपथीय उपाख्यान ही उस परवर्ती विचार का मूल है जिसके अनुसार महाभारतकार ने उक्त चार यज्ञों को ही धर्म का सनातन रूप माना है-

> "दर्श च पौर्णमासञ्च अग्निहोत्रञ्च धीमतः चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः।[2]

अग्निष्टोम -

अग्निष्टोम एकाह सोमयज्ञों की प्रकृति है । शुक्लयजुर्वेद के चौथे अध्याय से लेकर आठवें अध्याय के बत्तीसवें मन्त्र तक अग्निष्टोम यज्ञ का वर्णन है । एकाह सोमयज्ञों में प्रातः माध्यन्दिन तथा सायं सवन की प्रक्रिया होती है । इस यज्ञ का अन्तिम स्तोम -

---

1- शतपथ - 1. 6. 2. 5 ।

2- महाभारत । शान्ति पर्व 269, 20

"यज्ञा यज्ञा वो अग्नये"[1]

होने के कारण, यह अग्निष्टोम कहलाता है । बारह स्तोत्रों का प्रयोग इस यज्ञ की विशेषता है । प्रातः सवन के समय बहिष पवमान चार आज्य स्तोत्र माध्यन्दिन सवन के समय माध्यन्दिन पवमान तथा चार पृष्ठस्तोत्र तथा सायं सवन के समय तृतीय पवमान तथा अग्निष्टोम साम प्रयुक्त होते हैं । पशुबंध प्रत्येक सोमयज्ञ का अनिवार्य अंग है जिसका शतपथ में सोम सहित तथा सोम रहित पशुबंध के रूप में उल्लेख मिलता है । यज्ञ की विभिन्न प्रकृतियों के अनुसार बलि पशुओं की संख्या भिान्न-भिन्न रहती है । अग्निष्टोम में अन्य सोमयज्ञों को आदर्श रूप में प्रस्तुत करने हेतु अग्नि तथा सोम के निमित्त एक बलि पशु अज का विधान है ।

"हे अजे त्वं प्रजापते वर्णोऽसि"[2]

सम्पूर्ण यज्ञों पर स्वत्व स्थापित करना इस यज्ञ का प्रयोजन है जिसे देवों ने इस अनुष्ठान द्वारा प्राप्त किया ।

उक्थ्य -

उक्थ्य नामक स्तोत्र पर समाप्त होने के कारण यह यज्ञ उक्थ्य यज्ञ कहा जाता है । अग्निष्टोम के बारह स्तोत्र के अतिरिक्त तीन स्तोत्र या शस्त्र इसमें अधिक प्रयुक्त होते हैं । अतः येतीन शस्त्र भी उक्थ्य ही कहे जाते हैं । अग्निष्टोम यज्ञ में एक विशेष उक्थ्य ग्रह का {सोमाभिषव} प्रातः एव माध्यन्दिन

1- ऋग्वेद- 6.48. ।

2- शुक्लयजुर्वेद । महीधर भाष्य ४.२६

सवन के समय किया जाता है जिसे उक्थ्यों को उच्चारित करने वाले मुख्य तीन होत्रक बाँट लेते हैं । उक्थ्य में इसी ग्रह का सायं सवन के समय सोमाभिषव होता है - "उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि"[1]

हे सोम तुम उपयाम ग्रह के द्वारा गृहीत हो । हे उक्थ्य ग्रह में उक्थ्यों की रक्षा करने वाले तुम्हें बृहत्साम तथा सोमान्नयुक्त इन्द्र के लिये ग्रहण करता हूँ ।

षोडशी -

उपर्युक्त पन्द्रह स्तोत्रों के अतिरिक्त षोडशी नामक स्तोत्र का प्रयोग होने के कारण यह यज्ञ षोडशी यज्ञ कहलाता है । सायणाचार्य के अनुसार कुल सोलह शस्त्रों का प्रयोग होने के कारण इसका नाम षोडशी यज्ञ है । यह स्वतन्त्र याग नहीं है इस यज्ञ में इन्द्र के लिये षोडशी नामक ग्रह का सोमाभिषव किया जाता है।

"अथाऽऽइन्द्र सोमपागिरामुपश्रुतिश्चर उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन-ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष"[1]

हे सोम या इन्द्र हमारी वाणी सुनने के लिये यहाँ आ तू आश्रय के लिये लिया गया है । इन्द्र षोडशी के लिये तुझको लिया है यह तेरी योनि है अर्थात् उत्पत्ति स्थान है ।

अतिरात्र -

षोडशी यज्ञ के साथ-साथ इस यज्ञमें एक अतिरिक्त रात्रि अनुष्ठान किये जाने के कारण यह अतिरात्र यज्ञ कहलाता है । इस रात्रि अनुष्ठान में चार-चार स्तोत्रों को तीन बार दुहराया जाता है तथा प्रत्येक दुहराव के अंत में सोम

1- शुक्लयजुर्वेद - 8.34 ।

को आहुति दी जाती है । भोर में संधिस्तोत्र या अश्विन साम द्वारा यज्ञ की समाप्ति की जाती है । उपर्युक्त चारों सोम यज्ञ की समाष्टि को ज्योतिष्टोम भी कहा जाता है ।

वाजपेय -

उक्त सोम यज्ञों की श्रेणी में वाजपेय का सम्बन्ध षोडशी से है । अनेक विद्वानों ने इसे शरद ऋतु में करणीय यज्ञ कहा है । इस यज्ञ का स्वतंत्र रूप से अनुष्ठान करना भी विहित है तथा सर्वमेध यज्ञ के छठें दिन के रूप में भी करना विहित है । इसमें एक सवन दिवस कम से कम 13 दीक्षा दिवस तथा तीन उपसद दिवस अर्थात् 17 दिन होता है तथा एक वर्ष तक चल सकता है । वाजपेय यज्ञ में सत्रह विषाण रहित बकरे प्रजापति के लिये संयुक्त कर दिये जाते हैं । वाजपेय यज्ञ का सर्वाधिक रोचक कृत्य है रथों की दौड़ जिसमें यज्ञ कितर्ा को विजेता बनाकर खुशी में सत्रह ढोल बजाये जाते हैं । यज्ञकर्ता अपनी पत्नी के साथ सीढ़ी के द्वारा यूपारोहण की विधि भी सम्पन्न करता है । यूपारोहण कर इस मन्त्र को बोलता है -

"प्रजापते प्रजा अभूम स्वर्देवा आगन्मामृता अभूम"[1]

हे देवों हम स्वर्ग को प्राप्त हो गये हम अमर हो गये । सोम यज्ञों के विविध रूपों की प्रतिकृति होने के कारण वाजपेय यज्ञ विद्वानों के लिये वाद-विवाद का विषय रहा है कुछ विद्वान् वाज का अर्थ स्फूर्ति वेग शक्ति प्राण तथा वीर्य करते हैं । स्वयं शतपथ में वाज को एक स्थान पर "वीर्य" कहा गया है ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 9.21 ।

"वीर्य वै वाजा:"[1]

किन्तु अन्यत्र शतपथ स्पष्ट ही इसे अन्नपेय कहता है ।

"अन्नापेय ह वै नामैतद्यद्वाजपेयं"[2]

शुक्लयजुर्वेद में भी अन्न को जीतने के निमित्त ही इस यज्ञ को करने का विधान है । "आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे"[3] अर्थात् अन्न की प्रभूत उत्पत्ति मुझे प्राप्त होवें और विविध रूपों वाली यह द्यावापृथिवी हमें प्राप्त होंवे । कुछ ग्रन्थ राजसूय यज्ञ को वाजपेय से बढ़कर मानते है ।[4] शुक्लयजुर्वेद के अनुसार यजमान राजसूय को सम्पन्न कर राजा बनता है जबकि वाजपेय से वह सम्राट पद प्राप्त करता है ।

"बृहस्पतेः साम्राज्येन सम्राडभावेन
त्वा त्वाम्भिषिञ्चामि"[5]

निश्चय ही राजा सम्राट से घटकर है अतः वाजपेय अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है । शतपथ में राजसूय तथा अश्वमेध के साथ वाजपेय सोमयज्ञों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है ।

1- शतपथ - 3. 3. 4. 7 ।

2- शतपथ - 5. 1. 3. 3 ।

3- शुक्लयजुर्वेद- 9. 18 ।

4- मैकडॉनल व कीथ वैदिक इ0 जैक्स भाग 2 पृ0 256 ।

5- शुक्लयजुर्वेद उवट भाष्य - 9. 30 ।

राजसूय -

राजसूय सोम यज्ञ की प्रक्रिया अति सुदीर्घ एव जटिल है । शुक्लयजुर्वेद के पैंतीसवें मन्त्र से ही इसका विवरण प्रारम्भ होता है । इसके सम्पन्न होने हा में लगभग ऐक वर्ष की अवधि समाप्त हो जाती है । शतपथ के अनुसार इस यज्ञ में रत्निनांहवीषि नामक हवियाँ का भी विधान है । रत्निनाहवीषि नामक हवियाँ रत्नियों के घरों में जाकर दी जाती थी। जो जन प्रतिनिधित्व, की प्रतीकात्मक हवियों थी । सत्रह प्रकार के जल एकत्रित कर अभिषेक मे प्रयुक्त किये जाते थे -

"आपः स्वराजस्य राष्ट्र दा

राष्ट्रमकुष्मै दत्त"[1]

हे जल तुम राष्ट्र प्रदान करने वाले हो इस देवदत्त प्रभृति को राष्ट्र प्रदान करो अक्ष क्रीड़ा भी प्रस्तुत यज्ञ का अनिवार्य अंग है । इस यज्ञ का अन्त सौत्रामणि यज्ञ से होता था । राजसूय यज्ञ का सम्बन्ध वरुण या इन्द्र के अभिषेक से होने के कारण इसका प्रयोजन राज्य प्राप्ति है । राजसूय से यजन करने पर यज्ञकर्ता राजा बनता है । यज्ञकर्ता स्वयं में क्षत्रत्व या ब्रहमत्व का आधान करने के प्रयोजन से क्रमशः इन्द्र तथा अग्नि का यजन करता है । राजसूय यज्ञ करने वाले से भयभीत होकर पृथिवी वशवर्तिना हो जाती है ।

1- शुक्लयजुर्वेद उवट भाष्य -10. 9 ।

१- । शोधप्र

अश्वमेध -

अश्वमेध अहीन सोम यज्ञ है इसमें सोम का सवन तीन दिन होता है । शुक्लयजुर्वेद के अध्याय बाइस से पच्चीस तक में इसकी विधियों का सविस्तार विवरण उपलब्ध है । प्रथम दिन ब्रह्मोदन पाक तैयार किया जाता है राजा उसकी चार पत्नियां तथा सैकड़ों अनुचरियाँ एकत्रित होते हैं । दूसरे दिन अश्व को बाँध कर उसका प्रोक्षण किया जाता है । स्तोकीय प्रक्रम तथा धृति आदि हवियाँ दी जाती हैं ।[1] चातुरक्ष कुत्ते का बध कर उसे अश्व की टाँगो में फेंक दिया जाता है और मन्त्र पढ़ता है -

"परोमर्तः परः ।[2]

सैकड़ों राजकुमारों तथा योद्धाओं के संरक्षण में वह अश्व वर्ष भर घूमने के लिये छोड़ दिया जाता है । अश्व की अनुपस्थिति में "परिप्लव" नामक उपाख्यान वर्ष भर सुने जाते है अश्व के लौटने पर तीन सवनो में यज्ञ सम्पन्न होता था जिनमें प्रथम एवं द्वितीय सवन क्रमशः अग्निष्टोम एवं उक्थ्य होते हैं । वैशाख की पूर्णिमा को प्रथम सवन दिवस प्रारम्भ होता है । अश्व गोमृग तथा तूपर अज में से अश्व की बलि दी जाती है । जिसके साथ सैकड़ो वन्य एवं ग्राम्य बलिपशु एकत्रित रहते हैं जिन्हें मुक्त कर दिया जाता है[3] । कात्यायन श्रौतसूत्र अश्वमेध यज्ञ को प्रत्येक राजा के लिये अनुष्ठेय मानता है । शतपथ में भी उल्लेख है कि शक्ति सम्पन्न राजा ही इस यज्ञ को करे अन्यथा अधिक शक्ति सम्पन्न द्वारा अश्व पकड़ लिए जाने पर यज्ञ

1- शतपथ ब्राह्मण - 13.1.43 ।

2- शुक्लयजुर्वेद - 22.5 ।

3- शतपथ 13.3.1-5

भंग का पाप लगेगा । अश्वमेध यज्ञ ग्रीष्म में अनुष्ठान करने पर क्षत्रिय का तथा बसन्त में करने पर ब्राह्मण का माना जाता है । शतपथ में अश्वमेध की महिमा का प्रदर्शन उस कथन द्वारा होता है जहाँ यह कहा गया है कि अश्वमेधयाजी यजमान अपने समस्त पाप-कर्मों से यहाँ तक कि ब्रह्म-हत्या के पाप से भी मुक्त हो जाता है । तथा सभी दिशाओं व भुवनों को जीत लेता है ।

"सर्वां ह वै पापकृत्या सर्वां ब्रह्महत्यामपहन्ति यो अश्वमेधेन यजते"[1]

पुरुषमेध -

पुरुष मेध तथा सर्वमेध दोनों यज्ञों का आधार अश्वमेध है । शांखायन श्रौतसूत्र -

"सर्वमाश्वमेधिम्"[2]

कहकर इस यज्ञ का अश्वमेध के सदृश विधान बताता है । शुक्लयजुर्वेद तीसवें अध्याय में इस यज्ञ का वर्णन है । शतपथ के अनुसार यह यज्ञ पंचरात्र अर्थात् पाँच सवन दिवसों वाला है । किन्तु दीक्षा के तेइस दिन उपसद् के बारह दिन तथा पाँच सवन दिवस मिलाकर यह चालीस दिनों में सम्पन्न होता है अश्वमेध के द्वितीय सवन के दिन के मध्य तीन पशुओं अश्व गोमृग तथा तूपर अज के साथ इस यज्ञ मे पुरुष को भी संयुक्त कर दिया जाता है । शतपथ कार कहता है -

"अथो यदस्मिन मेध्यान् पुरुषानालभते तस्मादेवेवपुरुषमेधः"[3]

यतः इस यज्ञ में मेध्य पुरुषों को पकड़ा या प्राप्त किया जाता है अतः यह पुरुष मेध कहलाता है शुक्लयजुर्वेद में भी वर्णन है -

---

1- शतपथ - 13.5.4.1 ।

2- शांखायन श्रौतसूत्र -16.10.2 ।

"अथ यस्मात्पुरुषमेधो नानेमे वे लोकाः पूरयमेव पुरुषो योयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः तस्य यदेषु लाकेऽवन्नं तदस्यान्नं मेधस्तदस्यै तदन्नं मेधस्तस्मात् पुरुषमेधं"[1]

अर्थात् ये लोक पुर है और पुरुष वह है जो बहता है {वायु} वह इस पुर में सेता है इसलिये वह पुरुष है । इन लोकों में जो अन्न है वह इसका मेध या अन्न है । इसलिये इसका नाम है पुरुषमेध । उवट् की प्रस्तुत व्याख्या स्पष्टतया प्रतीकात्मकता की ओर इंगित करती है । एक सौ छियासठ या एक सौ चौरासी मनुष्यों को ग्यारह यूपों"[2] पर बलि केवल प्रतीकात्मक रूप में ही सम्भव है । शतपथ में प्रयुक्त "आलभते" क्रिया का अर्थ प्राप्त करना या पकड़ना है किन्तु शतपथ ब्राह्मण में कहीं भी मनुष्य के वास्तविक बाध का वर्णन नहीं है । पुरुषमेध की विधियों में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त की भावना का संयुक्त होना भी इस यज्ञ की प्रतीकात्मकता को प्रमाणित करता है ।[3] " पुरुष नारायण ने इच्छा की कि मैं सर्वोपरि हो जाऊं । उसने इस पंचरात्र यज्ञ "क्रतुः" को देखा[4] तथा यजन किया । फलस्वरूप वह सब भूतों में "अत्यतिष्ठं" बन गया[5] । स्पष्ट हो इस यज्ञ का प्रयोजन सर्वोपरिता की प्राप्ति है ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 31. 5. उवट् भाष्य ।

2- शुक्लयजुर्वेद - 5. 22 ।

3- शुक्लयजुर्वेद - 31. 1. 16 ।

4- शतपथ ब्राह्मण - 13. 6. 1. 1 ।

सर्वमेध -

पुरुष मेध यदि पंचरात्र है तो सर्वमेध दशरात्र यज्ञ अर्थात् दस सवन दिवसों वाला । दस दिनों में क्रमशः अग्निष्टोम इन्द्रस्तुत-उक्थ्य, सूर्यस्तुत उक्थ्य वैश्वदेव, आश्वमेधिक, पौरुषमेधिक आप्तोर्याम, त्रिनव, त्रयस्त्रिंश, तथा सर्वपृष्ट अतिरात्र यागों का अनुष्ठान होता है ।[1] प्रस्तुत यज्ञ का सम्बन्ध भी ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णित पुरुष की आत्माहुति से है । स्वयंभू ब्रह्मा ने तपस्या की उसने सोचा तप तो अनन्त है अतः मै तो "भूतो" में स्वयं की आहुति तथा स्वयं में "भूतो" की आहुति दूंगा । इस प्रकार उसने सर्वमेध द्वारा श्रेष्ठत्व स्वराज्य एवं आधिपत्य को प्राप्त किया । शुक्लयजुर्वेद के बत्तीसवें अध्याय में सर्वमेध यज्ञ का वर्णन है सर्वमेध यज्ञ में यजमान वरुण, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु, से मेधा की याचना करता है ।

"मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा"[2]

कुछ विद्वान् सर्वमेध यज्ञ को उस प्रथा का नमूना मानते हैं जिसके माध्यम से राजा लोग बुद्ध की तरह राजकीय जीवन त्यागकर तापस जीवन ग्रहण कर लेते थे । किन्तु इस प्रकार की कल्पना के लिये शतपथ कोई अवकाश प्रदान नहीं करता है ।

सौत्रामणि -

सौत्रामणि यज्ञ के दो प्रकार हैं प्रथम कौकिली सौत्रामणि द्वितीय चरक सौत्रामणि शुक्लयजुर्वेद के दसवें अध्याय में राजसूय यज्ञ के अन्त में और अध्याय

1- शतपथ ब्राह्मण - 13. 7. 1. 3. 12 ।

2- शुक्लयजुर्वेद - 32. 15 ।

उन्नीस से लेकर इक्कीस मे वर्णित चरक सौत्रामणि यज्ञ का सम्बन्ध चरकाध्वर्युओं को विधि से है । सूत्र ग्रन्थों ने इस यज्ञ को हविर्यज्ञों में वर्गीकृत किया है किन्तु शतपथ इसके सोमयज्ञ के स्वरूप पर अधिक बल देता प्रतीत होता है ।

"स वा एष प्रत्यक्षात् सोमयज्ञ एव । यत् सौत्रामणि"[1]

यही कारण है कि यह याग अग्निचयन यज्ञ का भी अनिवार्य अंग रहा है । इस यज्ञ का आधार शतपथ का एक उपाख्यान है" जिसके अनुसार त्वष्टा पुत्र त्रिशीर्ष की हत्या करने के बाद क्रुद्ध त्वष्टा द्वारा सोम वंचित किये जाने पर इन्द्रने त्वष्टा के यज्ञ को नष्ट कर सारा सोम पी लिया । वमन तथा रेचनप्रक्रिया द्वारा सोम निःसरण के कारण इन्द्र क्षीण हो गया । देवों ने अश्विनौ तथा सरस्वती से इस रोग का उपचार करवाया[2] । इस यज्ञ में इन्द्र की पाप रूप मृत्यु से सम्यक रक्षा की गई यही सौत्रामणि का सौत्रामणित्व है इस यज्ञ का यजमान इन्द्र ही है । देवता भी सुत्रामन इन्द्र, अश्विनौ तथा सरस्वती है जिनके लिये क्रमशः ऋषभ अज तथा मेष बलिपशु है । रोगोपचार से सम्बन्धं होने के कारण ही यह चरक सौत्रामणि यज्ञ है । राजसूय के अन्त में इसके अनुष्ठान का उद्देश्य भी प्रस्तुत यज्ञ में अधिक सोमपान से उत्पन्न विकारों का शमन ही है । क्षीण यजमान के आरोग्य हेतु पयोहविस्वरूप पृथक-पृथक उत्पवन मन्त्र दिए गए हैं ।

"वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्‌क्सोमो अतिद्रुतः[3]

1- शतपथ - 12.8.2.21 ।

2- शतपथ - ब्राह्मण - 12.7.1.14 ।

3- शुक्लयजुर्वेद - 19.3

अर्थात् पेट के अन्दर वर्तमान वायु के द्वारा पवित्र से पवित्र किया गया सोमरस बहता हुआ अधोगति होता है । किसी एक यज्ञ का अनुष्ठान करने पर प्रजापति जब रिक्त हो जाता है तो सौत्रामणि यज्ञ द्वारा ही परिपूर्ण होता है ।

प्रवर्ग्य -

सोम यज्ञों के साथ अनिवार्य रूप से संयुक्त "प्रवर्ग्य" नामक याग को उपसद विधि के साथ अनुष्ठान करने का आदेश है "श्री यश तथा अन्न की इच्छा वाले देवों ने निश्चय किया कि श्रम तप तथा श्रद्धा तथा आहुतियों द्वारा जो भी यज्ञ की पूर्णता को पहले प्राप्त कर लेगा वह हममें श्रेष्ठ होगा । विष्णु ने सारा यज्ञ स्वयं ही देवों ने ले लिया उसे घेर लिया । तब विष्णु ने अकेले ही धनुष लेकर सामना किया । धनुष की प्रत्यन्चा से निःसृत वाणोंने यज्ञ-रूप विष्णु का शिर काट कर उछाल दिया यह छिन्न सिर ही प्रवर्ग्य है[1] । यज्ञ का शिर होने के कारण ही यह प्रत्येक यज्ञ से संयुक्त है । तप्त घृत तथा आज्ययुक्त महावीर पात्र में दूध को मिलाना प्रवृजन कहलाता है इसमें अश्विनौ को गरम दूध {धर्म} दियाजाता है -

"स्वाहाकृतस्य धर्मस्य मधो पिबतमश्विना"[2]

हे अश्विनौ धर्मस्य मधु के स्वाहाकृत अंश का पान करो । इसे धर्म महावीर तथा सम्राट भी कहते है । प्रवर्ग्य याजी आदित्य का भी यजन कर लेता है क्योंकि यह तपने वाला सूर्य भी धर्म है ।

1- शतपथ - 14. 1. 1. 1-17 ।

2- शुक्लयजुर्वेद- 38. 10 ।

"स्वाहा धर्माय"

वस्तुतः सभी यज्ञों के फलों पूर्णता से प्राप्ति करवाना ही इसका मुख्य प्रयोजन है ।

अग्नि चयन -

अग्नि प्रज्वलित करने के लिये वेदि को इष्टकाओं का चयन ही अग्निचयन कहलाता है प्रत्येक सोमयाग का आवश्यक कृत्य होते हुये भी इसे पृथक यज्ञ के रूप में निरूपित किया गया है । अत्यन्त प्रपन्चात्मक होने के कारण यह यज्ञ सामान्य यज्ञकर्ता द्वारा अनुष्ठेय नहीं है । अतः इस यज्ञ का अनुष्ठान विरल रूप में ही होता रहा होगा । चिति निर्माण के प्रारम्भ में ही पन्च बध का विधान है जिनमें एक पशु पुरूष है सर्वोपरि होने के कारण पुरूष का बध सबसे पहले विहित है किन्तु यह बध प्रतीकात्मक ही होता है क्योंकि त्रिप्राणविहिन अज की बलि में ही पाँचों की बलि सन्निहित है । इस यज्ञ में धूम-धाम से मिट्टी लायी जाती है ।

"भरन्नग्नि पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा"[1]

पशु हितकारी अग्नि (तदर्थ मृत्पिण्ड) को धारण किये हुये यह अश्व आयुष्य अर्थात् यज्ञ समाप्ति के पूर्व मृत्यु को न प्राप्त होवे । आषाढा नामक इष्टका को यज्ञकर्ता की पत्नी तथा विश्वज्योति इष्टकाओं को यज्ञकर्ता स्वयं बनाता है । स्वयंमातृष्णा, दिव्ययजुः रेतः सिच, ऋतव्या, अपस्या, तथा छन्दस्य आदि दस हजार आठ सौ इष्टकाएँ वेदि चयन में प्रयुक्त होती हैं । शुक्लयजुर्वेद में वर्णन है[2]

1- शुक्लयजुर्वेद - 17.2 ।

इन इष्टकाओं को सृष्टि रचना प्रक्रिया का प्रतीक माना गया है । स्वयं मातृण्णा इष्टकाएँ तीनों लोकों की प्रतीक हैं-

"भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्व छाया विश्वस्य भुवनस्य धत्री"[1]

हे स्वयमातृण्णे तुम भूमि हो पृथ्वी हो अदिति स्वरूपा हो और समस्त विश्व की धारिका तुम विश्व की धात्री हो प्रावभृत दश इष्टकाएँ दश प्राण है ।

"प्रजापति गृहीतया त्वया प्राणं गृहयामि प्रजाभ्य:"[2]

प्रजापति के द्वारा बनायी गयी तुम इष्ट का के द्वारा सर्व प्रजा के प्राणों को मैं ग्रहण करता है । दिश्या इष्टकाओं द्वारा दिशाएँ स्थिर होती है । ऋतव्या छ: ऋतुओं का निर्माण करती है । विराट् नामक ईटें वाणी की प्रतीक हैं । कूर्म इष्टका का मध्य में स्थापन कच्छप द्वारा पीठ पर पृथिवी धारण की कल्पना का मूल है । वेदि के निचले स्तर में पुरुष की स्वर्णाकृति रुक्म तथा पुष्कर पर्ण का स्थापन उल्लेखनीय है जो आज भी कूप सरोवर या भवन निर्माण का कार्य प्रारम्भ करने पर नींव में रखे जाते हैं । अग्नि चयन के पंच चितियों के सम्बन्ध में समीकरण दर्शनीय है । पुरुष रूप प्रजापति के शरीर के लोम त्वम, मांस अस्थि तथा मज्जा पाँच अंग संवत्सर प्रजापति की पाँचों ऋतुएँ तथा वायु प्रजापति की पाँचों दिशाएँ विघटित हो गई थीं । ये ही पाँच इस अग्निचितियाँ हैं । अग्नि ने इन्हें यथा-स्थान चुना है । अत: ये चिति हैं[3] । वेदि निर्माण के पश्चात् वनस्पतियों से निर्मित 425 आहुतियाँ रूद्रों के लिये दी जाती हैं । अग्नि चयन करने वाला

1- शुक्लयजुर्वेद - 13.18 ।

2- शुक्लयजुर्वेद - 13. 54 ।

3- शतपथ ब्राह्मण - 6.1.2.17 ।

यजमान तीनों लोकों में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ।

शुक्लयजुर्वेद में उपर्युक्त सोमयज्ञों के अतिरिक्त और भी कई आनु-षांगिक सोम यागों एवं सत्रों का उल्लेख भी मिलता है । विषय की दृष्टि से म प्रक्रिया में मौलिक अन्तर नहीं होने के कारण इनका वर्णन अपेक्षित प्रतीत नहीं होता।

यजमान -

यज्ञ प्रक्रिया से यजमान का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है यज्ञ यजमान की अभीष्ट प्राप्ति का साधन है । अभीष्ट प्राप्ति हेतु वह यज्ञानुष्ठान का संकल्प करता है अतः यजमान संकल्पात्मक मन का ही प्रतिरूप है ।

"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं"[1]

तन्मे राध्यताम् इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि"

अर्थात् हे व्रत के पालक अग्नि मैं व्रत करना चाहताहूँ मैं व्रत का पालन कर सकूँ मैं इस योग्य हो जाऊँ मै अनृत से सत्य को प्राप्त हो जाऊँ । रुचिकर प्रसंग यह है कि लगभग प्रत्येक यज्ञ के कारणभूत महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिये स्वयं देवता ही पहले यजमान का रूप धारण करते हैं । स्वयं यज्ञ का सम्पादन कर वे मनुष्य को अनुष्ठान की प्रेरणा प्रदान करते है अतः यजमान द्वारा सम्बोध्य एवं स्तुत्य होने के कारण देवता अभीष्ट फलप्रदाता एवं प्रेरक यजमान दोनों ही है इन्हीं का अनुकरण कर मनुष्य यजमान रूप धारण कर अनुष्ठान का संकल्प लेते हैं । श्रौत यज्ञों को आरम्भ करने से पूर्व यजमान के लिये दीक्षा लेना अनिवार्य है दीक्षा कृष्णाजिन पर आसीन होकर ली जाती है -

---

1- शुक्लयजुर्वेद - 1-5 ।

"शर्मास्यवधूत रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्या त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेतु"[1]
हे शर्म तुम चर्म हो तुम्हें छोड़ने से मानो राक्षस ही यहाँ से छोड़ दिये गये है और अदातृजन भी यहाँ से दूर अपसारित कर दिये गये है चर्म तुम अदिति की त्वचा से लगते हो अतः पृथ्वी तुम्हें अपना जाने । दीक्षा के समय यजमान केश और श्मश्रुओं को मुडवाता है तथा गोदान करता है-

"देवीरोषधे त्रायस्व स्वधिते मैन हिंसी"[2]

हे दर्भ तुम इस (यजमान) की रक्षा करो हे वज्रपुत्र छुरे तुम इस यजमान को हिंसित मत करो । दीक्षित यजमान के लिये अनेक निषेध एवं व्रत पालनीय कहे गये हैं दीक्षित व्यक्ति पश्चिम की ओर सिर करके न सोए ताकि पूर्व दिशा देवों की होने के कारण उधर पैर न रहे पशु इष्टि के उपरान्त जमीन पर सोना चाहिये ऊपर नहीं । दीक्षित यजमान अग्न्याधेय से पहले दिन में ही भोजन करे क्योंकि देवता मानव मन के ज्ञाता होने के कारण यज्ञ से पूर्व ही उसके घर आ जाते हैं अतः उसका उपवास रखना अनिवार्य है । निष्कर्षतः यजमान के लिये यज्ञानुष्ठानों में धन व्यय करने के अतिरिक्त अपनी देह एवं मन को भी संयमित रखना आवश्यक था ।

ऋत्विज -

यजमान के मन में उद्भूत यज्ञानुष्ठान के सङ्कल्परूप बीज को पुष्पित एवं पल्लवित करना तथा अभीष्ट प्राप्ति हेतु अनुष्ठान करवाना ऋत्विज का कार्य है । ऋत्विज यजमान के लिये अनेक ऐश्वर्यों की कामना करता है । विभिन्न यज्ञों

1- शुक्लयजुर्वेद - 1.14 ।
2- " - 4.1 ।

यज्ञ के महत्त्व के अनुसार ही ऋत्विजों की संख्या निर्धारित रहती है । शतपथ के अनुसार हविर्यज्ञों में चार ऋत्विज होता, अध्वर्यु ब्रह्म तथा अग्नीध्र काम करते हैं ।

"होता वाध्वर्युर्वा ब्रह्मा वाग्नीध्रो वा वा स्वयं वा यजमानों नाभ्यापयति तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति"[1]

होता अध्वर्यु ब्रह्मा अग्नीध्र या स्वयं यजमान भी जिसकी प्राप्ति नहीं कर सकता उसकी इस प्रकार प्राप्ति हो जाती है । सोम के सर्वप्रमुख ऋत्विज उद्गाता को सम्मिलित करने पर मुख्य ऋत्विजों की संख्या पाँच हो जाती है जिन्हें विभिन्न ब्राह्मणों में क्रमशः यज्ञ की आत्मा यज्ञ का मुख, यज्ञ का यश कहकर गौरवान्वित किया गया है किन्तु प्रमुख ऋत्विज होता, अध्वर्यु, उद्गाता, एवं ब्रह्मा चार ही जिन्हें शतपथ में "महर्त्विज" कहा गया है । अग्नीध्र तो अग्नि के प्रज्वलन में सहयोगी ऋत्विज है जिसे महान अग्नि के सान्निध्य के कारण महत्त्व दे दिया गया है । इन ऋत्विजों के माध्यम से यजमान देवानुग्रह प्राप्त करता है तथा ये ऋत्विज प्रतिफल में यजमान से दक्षिणा प्राप्त करते हैं । शतपथ के अनुसार दक्षिणा चार प्रकार की महत्त्वपूर्ण है ।

"चतस्त्रों वै दक्षिणाः हिरण्यं गौर्वासोऽश्वो"[2]

शुक्लयजुर्वेद में इन चारों प्रकार की दक्षिणा देने का वर्णन मिलता है ।

1- शतपथ ब्राह्मण - 1. 1. 1. 15 ।

2- " " - 4. 3. 4. 7 ।

"अग्नये त्वा मह्य वरुणो ददातु सोऽमृतत्वम् शोयायुर्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रही रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्र एधि वयो मध्यं प्रतिग्रीते बृहस्पते त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्र एधि मयो मध्यं प्रतिग्रहोते यमाय त्वा मध्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमदोय हयो दात्र एधि वयो मध्यं प्रतिग्रहीत्रे।"[1]

अर्थात् हे स्वर्ण वरुणदेव ने तुम स्वर्ण को मुझ अग्निस्वरूप को दान में दिया है मै तुम्हे ग्रहण करके अमृत्व को प्राप्त करुँ हे स्वर्णदात यजमान के लिये तुम आयुष्य होकर प्रतिफल होवो और मुझ ग्रहोता के प्रति सुखरूप होकर फलो । हे गाय वरुण-देव ही स्वयं तुम्हें मुझ रुद्रस्वरूप को प्रदान करे इस प्रकार वरुण के द्वारा तुम्हें लाभ करके मै अमरत्व को प्राप्त करूं हे गाय तुम दाता यजमान का प्राण होकर प्रति-फलित होओ और मुझ प्रतिग्रहोता के लिये दूध दही प्रभृति खाद्य होकर फलो । हे वस्त्र वरुणदेव स्वयं तुमको मुझ बृहस्पति रूप ब्राह्मण को प्रदान करें मैं तुम्हे प्राप्त कर अमरत्व को प्राप्तकर हे वस्त्र दिये जाकर तुम यजमान के त्वचा रूप होकर प्रतिफलित होवो और मुझ प्रतिग्रहोता के प्रति सुखरूप होकर फलो । हे अश्व वरुण-देव तुमको मुझ यम स्वरूप ब्राह्मण को प्रदान करें तुम्हें ग्रहण कर मैं अमरत्व को सम्प्राप्त करूँ । सम्भवतः दक्षिणा यज्ञों को विशालता एवं लघुता के अनुपात में दी जाती थी । दक्षिणा सम्बन्धी आधारपरकता एवं तार्किकता दर्शनीय है ।

यज्ञ उपकरण -

भौतिक यज्ञ की क्रिया प्रक्रियाओं में सहायक वस्तुएँ यज्ञ के उपकरण कहलाती है । यज्ञों के वैविध्य के कारण इनकी प्रवद्धित संख्याओं को समाहरित कर

1- शुक्लयजुर्वेद - 7.47

इन्हें बारह भागों में बाँटा जा सकता है ।

आज्य या आहुतिपात्र -

आज्यधानी पृषदाज्यधानी आदि आज्य पात्र है । स्त्रुवा पिघले हुये आज्य को आज्यपात्र से लेकर स्त्रुचाओं मे डालती है शुक्लयजुर्वेद में वर्णन है ।

"स्त्रुवेणाज्ये गृहीते हुते च सति अग्निर्दीप्यते"[1]

अतः स्त्रुवा की उपमा शतपथ में पवन से दी गयी है "स्त्रुवा ही पवन है जिस प्रकार वायु का संचार सभी लोकों में होता है । तथैव स्त्रुवा सभी स्त्रुचाओं तक पहुँच जातीहै । आहुति देने वाले चम्मचों का समाप्तिगत नाम स्त्रुक है ये पाँच प्रकार की वर्णित की गयी है अग्निहोत्र हवणी प्रचरणी जुहु उपभृत एवं ध्रुवा । अग्निहोत्र-वणी से प्रातः होम में दूध की आहुति दी जाती थी जिसकी लम्बाई बाहु मात्र कही गयी है । प्रचरणी जुहु के समान एक स्त्रुक विशेष थी जिससे विशिष्ट आहुतियाँ दी जाती थीं । स्त्रुचाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी तीन ही मानी गई हैं जुहु उपभृत एवं ध्रुवा इन तीनों को क्रमशः तीनो लोको द्यौ अन्तरिक्ष एवं पृथिवी का प्रतीक माना गया है -

"तस्यासावेव द्यौर्जुहूः अथेदमन्तरिक्षमुपभृदियमेव ध्रुवा"[2]

उल्लेखनीय है कि आहुति देते समय भी प्रक्रिया में इस आनुरूप्यता का ध्यान रखा जाता था । जुहू आहुति देने की सर्वप्रमुख चम्मच है-

"घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदे प्रियेणधाम्ना प्रिय सद आसीद घृताच्यस्युपभृन्ना-म्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रिय सद् आसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेणधाम्ना प्रियसद् आसीद"[3]

1- शुक्लयजुर्वेद - 1.29 महीधर भाष्य ।

2- शतपथ - 1.3.2.4

3- शुक्लयजुर्वेद - 2.6

हे जुहू घृत को डालने वाली नाम से जुहू हो । वह तुम इन देवों के प्रिय तेज घी के साथ इस अपने प्रिय स्थान दर्भासन पर स्थित होओ । हे उपभृत घृत को डालने वाली तुम नाम से उपभृत हो । वह तुम इन देवों के प्रिय तेज घी के साथ इस अपने प्रिय स्थान दर्भासन पर स्थित होओ । हे-ध्रुवे तुम घृत को डालने वाली नाम से तीसरी है प्रस्तुत यज्ञपात्र विभिन्न प्रकार की यज्ञिय वृक्षों की काष्ठाओं से बनते थे ।

मन्थन उपकरण -

अग्निमंथन शकल तथा दो अरणियां मन्थन उपकरण है । इन दो अरणियों में एक उत्तर अरणि तथा दूसरी अधो अरणि कही जाती है ।

यज्ञायुध -

प्रस्तुत उपकरणों से वेदी की खुदाई एवं हविष्यान्न तथा सोम आदि पटकने कूटने पीसने का काम लिया जाता है ये नौ है - स्फय, अभ्रि परशु, शम्या, शूर्प, उलूखल, मुसल दृषद तथा उपल ।

दोहन उपकरण -

हवि के लिये दूध दुहने में प्रयुक्त उपकरण दोहन उपकरण कहे जाते है जो पलाश, शमी की शाखा शाखा पवित्र, उखा कुंभी तथा रस्सी है उखा दूध निकालने तथा गरम करने का पात्र था जिसका पतीली या घड़े सा आकार था ।

"उखां कृणोति शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया"[1]

1- शुक्लयजुर्वेद - 11.57 ।

अदिति देवी अपनी बुद्धि और शक्ति के सामन्जस्य के साथ स्वबाहुओं से उरवा को बनावें । प्रवर्ग्य में यह शकट के आकार का बनता था । कुभी को उरवा का ही पर्याय मानते हैं । निदाना को राजस्थान में आज भी "दाणा" या "न्याणा" कहते है जिसे गाय की टांगो में बाँधकर दूध दुहा जाता है ।

हविपात्र -

हविपात्रों में हवियों तैयार की जाती है बारह कपाल, उपवेश, मदुन्ती पात्र संवपन पात्री, मेक्षण, चरुस्थाली, पुरोडाशपात्र महावीर शराव, अन्वाहार्य स्थाली, उपयाम उपयमनी तथा परिग्राह, आदि हवि पात्र प्रयुक्त होते हैं कपाल मिट्टी के बने बारह तवेनुमा टुकड़ेकहोते हैं । लकड़ी का बना नौ अंगुल लम्बा चिमटानुमा पात्र उपवेश या धृष्टि कहलाता है ।

"धृष्टिरस्यपाग्ने अग्नि"[1]

हे पलाश काष्ठके अंगारों को इधर-उधर चलाने में तुम पूर्ण प्रगल्भा हो । लकड़ी के लम्बे चपटे पात्र "मेक्षण" द्वारा पिसे हुये हविष्यान्न में जल मिलाया जाता था। चरुस्थाली में "चरु" तैयार किये जाते थे । प्रदेश मात्र लम्बे तथा छः अंगुल गहरे पुरोडाश पात्रों में पुरोडाश रखा जाता था । घड़े के आकार के उरवा सदृश महावीर पात्र में प्रवर्ग्य तैयार किया जाता था । तश्तरियों को "शराब" तथा मिट्टी की कटोरियों को उपयाम कहा जाता था । हविपात्रों को अग्नि पर से उतारने के लिये परिग्राह प्रयुक्त होता था । शतपथ मे कहा गया है -

---

1- शुक्लयजुर्वेद - 1-17 ।

"परितः गृह्यते अनेन इति "परिग्राहः"[1]

उपयोजनपात्र -

वेद, पवित्र, विधृति, प्रस्तर आसन्दी आदि वस्तुएँ जो यज्ञ की विविध विधियों में काम आती हैं उपयोजन पात्र है ।

प्रातिस्विक उपकरण -

यज्ञ में कतिपय द्रव्यों के प्रयोग की अनिवार्यता प्रदर्शित की गई है । ये द्रव्य प्रातिस्विक उपकरण कहे गये हैं जो संख्या में छः है - समिधा औक्षणपात्र इध्म, परिधि, बर्हि, पुष्करपर्ण तथा संभार संभार सभरण क्रिया से सम्बद्ध एक तात्विक शब्द है । जो यज्ञ से पूर्व अनेक यज्ञिय वस्तुओं के संभरण (एकत्रित करना) का द्योतक है ।

चमस तथा ग्रहपात्र -

चमस तथा ग्रहपात्र सोमयज्ञों में प्रयुक्त होते हैं । इन यज्ञों में दस चमस, उन्नीस ग्रहपात्र सवनीय तथा द्रोणकलश अपेक्षित है । तीन अंगुल दण्ड वाला चार अंगुल ऊँचा, छः अंगुल चौड़ा कुल प्रादेश मात्र लम्बा लकड़ी ताँबे या कास्य का बना चम्मच चमस कहलाता है । चौदह काष्ठपात्र चार मिट्टीके ी थाली तथा एक होमपात्र कुल उन्नीस पात्रों को "ग्रहपात्र कहा गया है । सोमरस भरने के ि मिट्टी के कलश सवनीय कलश कहे जाते हैं तथा द्रोण परिमाण सोमरस समाने वाला छोटा घड़ा द्रोण कलश कहलाता है । शतपथ में चमस का वैकल्पिक पात्र "उदन्चवन पात्र" कहा गया है अतः उदन्चन का उपयोग सम्भवतः चमस के समान ही था।[2]

1- शतपथ -

2- शतपथ - 4.3.5.21 ।

दीक्षा उपकरण -

मेखला दण्ड भोक्त्र कृष्णविषाण क्षौमवस्त्र त्रैककुभ अंजन, नवनीत तथा दर्भ ये आठ दीक्षा उपकरण कहलाते हैं जो दीक्षा के समय यजमान तथा उसकी पत्नी के काम आते हैं ।

भक्षण पात्र -

ऋत्विज तथा यजमान जिन पात्रों में हविर्भाग को खाते हैं वे भक्षण-पात्र कहलाते हैं । प्राशित्रपात्र ,यजमान" पात्र तथा पत्नीपात्र क्रमशः ब्रह्मा, यजमान, यजमान पत्नी के पात्रों का नाम है । शेष पात्र "इडा पात्र" कहलाते हैं जो अरत्निमात्र लम्बे तथा चार अंगुल चौड़े होते हैं इनमें इडारूपी हवि रखा जाती है ।

पशुयाग विशिष्टपात्र -

कुछ विशेष पात्रों का सम्बन्ध पशुयज्ञों से ही है जैसे वपा, श्रवणी, शूल, वसाहोमहवणी, छुरी तथा प्लक्ष शाखा आदि ।

आस्तरण -

ऋत्विजों तथा यजमान आदि के बैठने के लिये अनेक प्रकार के आसनों का प्रयोग यज्ञों में किया जाता था जो घास, काष्ठ, तथा चर्म आदि से निर्मित होते थे । चर्म -आसन के रूप में यद्यपि बस्ताजिनं का भी प्रयोग होता था किन्तु इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृष्णाजिन है कृष्ण मृग चर्म को कृष्णाजिन कहा जाता था। यज्ञ की पूर्णता के लिये कृष्णाजिन का प्रयोग किया जाता था । यजमान इस चर्म पर बैठकर ही दीक्षा ग्रहण करता है हवि के चावलों को कूटने फटकने का का काम

भी इस मृग चर्म पर बैठकर ही किया जाता था । कृष्णाजिन का चर्म भी कहते हैं चर्म मानवीय नाम है दैवीय नाम इसका शर्म है जिसका अर्थ कल्याणकारक है-

"शर्मास्यवधूत रक्षो"[1]

यज्ञमूलक धर्म के अधिष्ठाता आर्यों ने कृष्णाजिन को कैसे प्राप्त किया इस सम्बन्ध में शतपथ एक रोचक तथ्य उपाख्यान द्वारा उद्घाटित करता है " एक बार यज्ञ देवताओं के पास से भाग गया तथा कृष्णमृग के रूप में विचरता रहा देवताओं ने इसे पहिचान लिया तथा वे उसका चर्म जो "शर्म" होने के कारण कल्याणकारक है ले आए"[2] निष्कर्षतः कृष्णाजिन यज्ञ के गौरव तथा उसकी रक्षा का प्रतीक है ।

देव -

शुक्लयजुर्वेद का मूल प्रतिपाद्य यज्ञ की मीमांसा है । इसमें देवताओं का उल्लेख अथवा वर्णन यज्ञ के प्रसंग में ही होने के कारण उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व का अनुपात रूप तथा क्रम ऋग्वेद जैसा नहीं है । ऋग्वेद में देवों की प्रत्यक्ष स्तुति है । अतः उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ प्रकट होना स्वाभाविक है किन्तु शुक्ल-यजुर्वेद में उन्हें प्रत्यक्ष संबोधित न करके या तो यज्ञ की सम्पन्नता हेतु उनका आहवान किया गया है या निर्वचन एवं समीकरण द्वारा उनकी भौतिक या दार्शनिक व्याख्या (यज्ञ की प्रतिपादिका) प्रस्तुत की गई है अतः ऋग्वेद के महान् शक्ति सम्पन्न देवता यदि पराक्रमयुक्त क्रिया कलापों के कर्ता हैं तो शतपथ मे वे यज्ञिय हवियों के ग्राहक तथा यज्ञकर्ता यजमान की ऋद्धि-सिद्धि के वितरक हैं ।

1- शुक्लयजुर्वेद 1-19

देवताओं का आकलनात्मक विवरण -

देव की संख्या के विषय में वेद तथा पुराण दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त मतभेद है यास्क के मतानुसार त्रिलोक के प्रतिलोक में एक-एक देव की स्थिति होने से तीन ही देव है । पृथ्वी में अग्नि अन्तरिक्ष में वायु तथा आकाश में सूर्य जिन्हें क्रमशः पार्थिव मध्यमस्थानीय तथा दिव्य कहा गया है ।

"तिस्त्र एव देवता इति नैरूक्ताः । अग्नि पृथ्वीस्थानीय वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्ष स्थानः । सूर्यो द्युस्थानः।"[1]

तैत्तिरीय संहिता भी तीन देवों का समर्थन करती है किन्तु अंतिम देवता सूर्य न होकर विश्वेदेवा हैं । अर्थववेद भी प्रस्तुत वर्गीकरण से सहमत हैं । ऋग्वेद तैंतीस देवों का समर्थन करता है । ऋग्वेद के अन्य मन्त्र में बताया गया है कि प्रत्येक स्थान में ।। प्रकार के देवता निवास करते हैं शुक्लयजुर्वेद मे भी यही कहा गया है-

"ये देवासो दिवि एकादश स्थ पृथिव्यध्येकादश स्थ अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासोयज्ञमिमं जुषध्वं"[2]

अर्थात् जो देव द्युलोक में ग्यारह है पृथ्वी पर जो देव ग्यारह है और जलों के रहने के स्थान अन्तरिक्ष में भी जो स्वमहिमा से ग्यारह हे वे तुम सब देवजन हमारे इस यज्ञ को प्रीतिपूर्वक सेवन करो । देखना है कि तैंतीस देवों में किन देवता की गणना स्वीकृत की गयी है शतपथ ब्राह्मण में इन्हें तीन समूहों में विभक्त प्रदर्शित किया गया है आठ वसु, ग्यारह रूद्र, बारह आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति । ऐतरेय ब्राह्मण ने इस संख्या को द्विगुणित कर 33 सोमपदेव और 33 अतोभप देव का विभाजन किया है । शुक्लयजुर्वेद के एक विशिष्ट उल्लेखानुसार देवों की संख्या

1- निरूक्त - 7.2.1 ।

2- ऋग्वेद - 1.119.11. शुक्लयजुर्वेद 7.19 ।

तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख, तैंतीस हजार और तीन सौ तैंतीस देवता इस अग्नि का पूजन करते हैं -

"त्रीणि शता त्री सहस्त्राण्यग्नि" त्रिंशच्च देवा नव चाऽसपर्यन्" [1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तत्कालीन वेदज्ञों के लिये देवों की संख्यायें निश्चित करना आसान नहीं था ।

देवों की मानवेतर विशेषताएँ -

शुक्लयजुर्वेद में मनुष्यों को यदि अनृत कहा गया है तो देवों को सत्य । अनृत नष्ट हो जाता है किन्तु सत्य नष्ट नहीं होता । सत्य के अधिष्ठाता होने के कारण ही सम्भवतः इन्होंने मनुष्यों की अपेक्षा अमरता प्राप्त की । देवता नैतिक दृष्टि से उच्च सत्यवादी एवं कपटरहित है । ऋग्वैदिक देवता महान एवं शक्तिशाली तो थे किन्तु वरुण के अतिरिक्त अन्य देवों का नैतिक धरातल अधिक ऊँचा नहीं था । 250 तक संभवतः सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण नैतिक आचरण की उच्चता की अपेक्षा की जाने लगी मनुष्यों को अनृत तथा देवों को सत्य कहा जाना इसी परिस्थिति का प्रतिफलन ज्ञात होता है । [2] देवों की एक अन्य विशेषता है कि वे मनुष्यों से तिरोहित रहते हैं -

"तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः" [3]

देवता मनुष्यों के मन की बात जानते है -

"मनो ह वै देवा मनुष्यऽजानान्ति" [4]

1- शुक्लयजुर्वेद - 33.7 ।

2- शुक्लयजुर्वेद - 1.5 ।

3- शतपथ ब्राह्मण- 3.1.2.8

4- शतपथ ब्राह्मण - 1.1.1.7 ।

अर्थात् मानसिक आचरण का संदेश देवों के पास स्वतः पहुँच जाता इनके अतिरिक्त परोक्षप्रियता भी देवों की एक विशेषता है जिसके अनुसार वे प्रत्यक्ष कथन के द्वेषी कहे गये हैं । देवता प्रकृति के नियमों (ऋत) का उल्लंघन नहीं करते ।

देवों की उक्त सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त पृथक् रूप में भी कतिपय विशेषताएँ दिखाई देती हैं जिनका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है अतः मुख्य देवताओं का विस्तृत विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है-

अग्नि -

शुक्लयजुर्वेद का यज्ञ से तथा यज्ञ का अग्नि से अभिन्न सम्बन्ध है । यज्ञ का परम साधन होने के कारण अग्नि देवता की विविध चारित्रिक विशेषताओं का प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकट होना स्वाभाविक है । अग्नि देवता के चरित्र का जितना समृद्ध एव विविधतापूर्ण वर्णन शु० में मिलता है अन्यत्र नहीं । प्रस्तुत ग्रन्थ में अग्नि के भौतिक दार्शनिक ऐतिहासिक एवं दैवीय सभी पक्षों पर प्रकाश पड़ता है ।

यज्ञ की साधनारूप अग्नि त्रिविध है गार्हपत्य आह्वनीय तथा दक्षिणाग्नि इन अग्नियों में आहुति डालने का विधान है -

"अग्ने गृपते सुगृहपतिस्त्वयाग्नेऽहं गृहपतिना भूयासं"[1]

हे गार्हपत्याग्ने तुम सुष्ठु गृह के पालक हो हे अग्ने तुम गृहपालक के द्वारा मैं यजमान के सुष्ठु गृह का पालक होऊँ । अग्नि देवों का सेनापति दूत हव्यवाहक तथा होता है -

"अग्ने वेहोत्रं वेर्दूत्यमवतां त्वा द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी"[2]

1- शुक्लयजुर्वेद - 2.27 ।

2- शुक्लयजुर्वेद - 2.9 ।

हे अग्ने तुम अग्नि होत्र को जानो तुम दूतत्व को जानो दूतकर्म करते हुये तुम्हें द्यावा पृथिवी बचावे तुम भी द्यावापृथिवी को रक्षा करो । हव्यवाहक अग्नि कव्यवाहक भी है क्यों कि वह पितरों को "कव्य" पहुँचाता है -

"अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा"[1]

अग्नि की रश्मियाँ सूर्य के सदृश हैं क्यों कि यही अग्निदेव द्युलोक में आदित्य अन्तरिक्ष में वायु तथा पृथ्वी पर अग्नि स्वरूप है । तथा इन तीनों के संयुक्त रूप को ही "विश्वज्योति" कहा गया है अग्नि ही तेज है । द्यौ का पुष्कर {कमल} यदि सूर्य है तो पृथिवी का पुष्कर अग्नि । मनुष्यों में प्राणरूप तथा जलों एवं औषधियों में अन्तर्निर्हितअग्नि को क्रमशः नृषद् अप्सुषद, तथा बर्हिषद कहा गया है -

"नृषदे वेडप्सुषदे वेड वर्हिषदेवेव नसदे वेद् स्वर्विदिवत"[2]

अग्नि गृहपति सत्य का रक्षक है ।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् वर्धमानं स्वे दमे"[3]

यज्ञों में शोभमान सत्य के रक्षक, देदीप्यमान तथा अपने गार्हपत्यादि वेदिगृह में सदा वर्धनशील अग्नि को हम आहवान् करते हैं । व्रत के प्रभाव से वह देवों के जन्मजात शत्रु राक्षसों को मारकर भगा देता है अतः उसे "रक्षोहा" या रक्षसानपहन्ते भी कहा जाता है -

---

1- शुक्लयजुर्वेद - 2. 21 ।

2- " - 17. 12 ।

3- " - 3. 23 ।

"ये रूपाणि प्रतिमन्चमानाऽसुराः सन्तः स्वधया चरन्ति परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टोल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात्"[1]

जो असुर रूपों को बदलते हुये स्वतंत्रता से विचरते हैं।छोटे शरीर वाले या बड़े शरीर वाले अग्नि उनको इस लोक से निकाल दे । यजमान को यज्ञ के पथ पर ले जाने के कारण यह पथिकृत है नराशंस अग्नि का गुह्य रूप है । इसी नाम से यह पशु-यज्ञ में सम्बोधित किया जाता है ।

तीनों लोकों में स्थापित "त्रिवत्" अग्नि के स्थूल रूप में तीन भेद है आमाद {भोजन बनाने की} क्रव्याद {मृतदेह जलाने की} तथा देवयाज {यज्ञ की अग्नि} ।

"आमादं जहि निष्क्रव्याद सेधा देवयजं वह"[2]

हे अग्नि कच्चा खाने वाली अग्नि को छोड़ । शव खाने वाली अग्नि को दूर कर उस अग्नि को लाओं जिसमें देवताओं के लिये यज्ञ किया जाता है । अग्नि की चारित्रिक विवरण के माध्यम से कुछ ऐतिहासिक संकेत भी उपलब्ध है अग्नि को पणियों ने छिपा लिया था ।

"यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देव पणिभिर्गुह्यमानः"[3]

हे द्योतमान अवहवनीय अग्ने पणियों द्वारा छिपायें जाकर तुमने जिस पश्चिम परिधि को स्थापित किया था ।

प्रथम यज्ञकर्ता अंगिराओं ने अग्नि को दूत बनाकर आदित्यों के पास भेजा । अग्नि ने पुरु रक्षस को युद्ध में परास्त किया । शुक्लयजुर्वेद में यजमान

1- शुक्लयजुर्वेद 2.30 ।
2- " 1.17 ।
3- " 2.17 ।

अग्नि को पिता तुल्य समझता है और कामना करता है ।

"स: पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव सचस्वा न: स्वस्तये"[1]

हे अग्ने तुम हमारे लिये शुभ उपायों वाले होओ जैसे पिता पुत्रों के लिये होता है । तुम हमारे कल्याण के लिये सदा हमारे साथ होओ ।

इन्द्र -

इन्द्र यज्ञ का देवता है उसने वाजपेय यज्ञ के द्वारा प्रमुखता प्राप्त की अत: इन्द्र का सम्बन्ध क्षत्र से है । अग्नि यदि देवों की आत्मा है तो इन्द्र श्रेष्ठत्व। असुर राक्षसों के प्रवेश से घबरा कर देवों ने इन्द्र को महत्त्व दिया । ऋग्वेद काल में व्यक्तिगत महान् कार्यों द्वारा उच्च प्रकर्ष को प्राप्त इन्द्र अब सामान्य देवों के हाथ की कठपुतली दिखाई देता है जो उसके चारित्रिक ह्रास को प्रतिबिम्बित करता है । फिर भी शुक्लयजुर्वेद के समय तक इन्द्र में पूर्ववर्ती विशेषताएँ भी अवशिष्ट दिखाई देती है इन्द्र को क्षत्र धर्म तथा राजा कहा गया है ।

"इन्द्रो विश्वस्य राजति शं नो
अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे[2]

इन्द्र ही विश्व का राजा है वह सारे द्विपाद मनुष्यादि के लिये सुखद होवें चतुष्पाद गवादि के लिये सुखद होवे । वह दक्षिण दिशा का रक्षक है बृहस्पति की सहायता से इन्द्र ने दक्षिण दिशा से असुर राक्षसों को भगा दिया था अग्नि तथा वरुण के साथ इन्द्र देवों का सेनापति है -

"इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञ: पुर एतु सोम: "[3]

1- शुक्लयजुर्वेद - 3.24 ।

2- शुक्लयजुर्वेद - 36.8 ।

3- " - 17.40 ।

इन्द्र व बृहस्पति हमारी इस सेना के नेता है यज्ञ का अधिष्ठाता विष्णु दक्षिण-पार्श्व में रहने वाला है सोम अग्रेसर है । इन्द्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। निखिलाबलकृतिः" बाल वाले जितने कार्य है उसका सम्पादन इन्द्र करता है । वृत्र के साथ उसका घनघोर संघर्ष और अंत में अपने ब्रज द्वारा वृत्र का हनन यही इन्द्र के कार्यों में प्रमुखता धारण करता है इसी इन्द्र को "वृत्रहन" विशेषण से अलंकृत किया गया है वह इन्द्र अकेले ही शत्रु की शतशः सेना को जीत लेता है ।

"क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शत सेना अजयत्साकमिन्द्रः"[1]

निनाद करने वाला पलक न मारने वाला तथा अत्यन्त वीर वह इन्द्र एकाकी ही शत्रु की शतशः सेना को जीत लेता है । इन्द्र ने पणियों के गोष्ठ को तोड़कर गाय को छुडा दिया था । इन्द्र का अस्त्र ब्रज है ब्रज से ही शत्रुओं को मारता है ।

"त्रिभिर्देवै शता व्रजबाहुर्जघान वृत्र वि दुरो ववार"[2]

तैंतीस देवों के साथ ब्रजबाहु इन्द्र ने वृत्र को मार डाला और नदियों के बन्द द्वारों को खोल दिया । इन्द्र श्रेष्ठ रथारोही है इसी से उसको "रथीतम रथीनां" विशेषण से अलंकृत किया गया है । युद्ध में इन्द्र का आह्वान किया जाता है । सोम इन्द्र का प्रिय पेय है सभी महान् कार्यों का सम्पादन वह सोम पीकर करता है -

"अध्वर्यो अद्रिभिः सुत सोमं पवित्र आनय । पुनाहीन्द्राय पातवे"[3]

हे अध्वर्यो पत्थरों के द्वारा कूटकर अभिषव किये गये सोमरस को तुम दशा पवित्र से छानो उसे तुम इन्द्र के पीने के लिये छानों सोम के साथ भुने हुये करम्भ अपूप का

1- शुक्लयजुर्वेद - 17.33 ।

2- " - 20.36 ।

3- " - 20.31 ।

भी सेवन करता है इन्द्र के अश्व हरे रंग के हैं -

"आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः "[1]

अर्थात् मयूर के रोमों जैसे श्याम वर्ण के मन्दगति हरि अश्वों के द्वारा हे इन्द्र तुम हमारे यज्ञ में आओ । अतएव आर्यों को विजय प्रदान करने वाले देव होने के नाते इनकी भव्य स्तुतियाँ बल तथा ओज के वर्णन से परिपूर्ण है ।

सोम -

शुक्लयजुर्वेद के सोमयज्ञों में सोम देवता की अनिवार्यता के कारण सोम शुक्लयजुर्वेद के सर्वप्रमुख देवों में से एक है शतपथ में सोम देवता का प्रजापति से समीकरण उसकी विशेष महिमा का द्योतक है -

"सोमो हि प्रजापतिः "अथवा" सोमो वै राजा यज्ञ प्रजापतिः "[2]

यहाँ वरुण तथा इन्द्र के समान सोम को भी राजा कहा गया है अतः सोम इस प्रमुख देवत्रयी का सदस्य है शु0 में है कि सोम ब्राह्मणों का राजा है एवं वोऽमकी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणा राजा" अग्नि तथा इन्द्र को समर्पितत की जाने वाली पार्श्व हवि सोम को भी देने का विधान है । इस दृष्टि से अग्नि इन्द्र तथा सोम का देवत्व समान हो जाता है सोम का पितरों से सम्बन्ध उल्लेखनीय है । पितृयज्ञ में सोम तथा अग्नि दोनों को हवि देने का विधान प्राप्त है -

"अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा"[3]

1- शुक्लयजुर्वेद - 20. 53 ।

2- शतपथ - 12. 6. 1. 1 ।

3- शुक्लयजुर्वेद - 9. 40 ।

पितृजनों के काव्य को वहन करने में समर्थ अग्नि के लिये आहुति है पितृयुक्त सोम के लिये यह आहुति है । अतिथि यज्ञ में भी सोम को हवि दी जाती थी-

"सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा"[1]

"हे गायत्री छन्द राजा सोम के भृत्य अग्नि का तुम शरीर हो हे हविः मैं तुम्हें उस व्यापन शील सोम के निमित्त भूमि पर धरता है । सोम तीनों लोकों की ज्योति तथा उत्तर दिशा का सम्राट है ।

"यत् ते सोम दिवि ज्योतिर्यत पृथिव्या यदुरावन्तरिक्षे"[2]

शतपथ मे इसे देवों का अन्नरूप "चन्द्रमा" को कहा गया है ।

"एष वै सोमो राजा देवानां अन्नं यच्चन्द्रमाः"[3]

सोम को वृत्र कहा जाना भी इसी अभिप्राय का द्योतक है । शतपथ में उल्लेख है कि अश्विन सोम को नमुचि असुर से लाये थे जिसे सरस्वती ने इन्द्र के लिये तैयार किया था इस प्रकार वनस्पति रूप सोम के दो भेद है । सुत और असुत । सूक्ष्म रूप से सोम को अप्सु कहा गया है -

"जुषाणोऽप्तु राज्यस्य वेत्तु स्वाहा"[4]

प्रीयमाण सोम घृत की इस आहुति को स्वीकार करें सोम के लिये यह आहुति है । यज्ञ में प्रयुक्त सोम के पौधों को ग्रावा द्वारा अभिषुत किया जाता है । अभिश्रवक से पूर्व इसके क्रय किये जाने की प्रतीकात्मक विधि प्रचलित थी ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 6.33. ।

2- " - 6.33 ।

3- शतपथ - 11.1.4.4 ।

4- शुक्लयजुर्वेद - 5.35 ।

विष्णु -

ऋग्वेद का अत्यल्पस्तुत गौण देवता विष्णु शुक्लयजुर्वेद का परम महान् देवता है । विष्णु को पुनः पुनः "यज्ञरूपं कहा जाना इस देवता के प्रवर्द्धित यश का द्योतक है शतपथ में वर्णित है कि यज्ञ का आधा भाग विष्णु का है-

"अग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यों विष्णुः परार्ध्यः "[1]

विष्णु का यज्ञ से प्रस्तुत तदात्म्य ही देवता रूप में इसके पौराणिक विकास की स्त्रोतस्विता को प्रस्तुत करता है 250 के दूसरे अध्याय में ही विष्णु की वामनावतार कथा का सूत्र मिलता है । यज्ञ रूप विष्णु ने तीन क्रमों द्वारा तीनों लोकों को विक्रान्त कर लिया-

"दिवि विष्णु र्व्यक्रस्त जागतेन छन्दसा अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रस्त गायत्रेण छन्दसा"[2]

जगती छन्दरूप पाद से यज्ञदेवता ने भूलोक में एक पद रखा । त्रिष्टुप छन्द रूप द्वितीय पद के द्वारा विष्णु ने अन्तरिक्ष लोक में द्वितीय पग रखा गायत्री छन्द रूप तृतीय पग के द्वारा विष्णु ने पृथ्वी को अतिक्रान्त किया । प्रजापति ने विष्णु के क्रमों की सहायता से प्रजा का सृजन किया था । विष्णु के स्वरूप की तुलना पर्वत पर रहने वाले यथेच्छ भ्रमण करने वाले भयानक पशु से की गयी है ।

"प्र त द्विष्णु स्तवते वीर्येण
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः "[3]

1- शतपथ - 3.1.31 ।

2- शुक्लयजुर्वेद - 2.25 ।

3- " - 5.20 ।

वह विष्णु अपने बलवीर्य के द्वारा सर्वत्र संस्तुत होता है वह कन्दरास्थ और सर्वत्र संचारी सिंह के समान भयंकर है । विष्णु को स्थान-स्थान पर "शिपिविष्ट एवं यज्ञपतिं भी कहा गया है -

"यज्ञं पाहि यज्ञपतिं"[1]

विष्णु को प्रादेश मात्र कहा गयाहै । शतपथ में पुरुष भी "प्रादेश मात्र" ही वर्णित है तथा पुरुष का नारायण के रूप में भी प्रासंगिक उल्लेख किया गया है । नारायण विष्णु से यजमान धन की याचना करता है -

"उभा हि हस्ता वसुना पृणस्व प्रयच्छ"[2]

हे विष्णु तुम अपने दोनों हाथों को धन से भरों और अपने दाहिने बायें हाथ प्रदान करों । विष्णु को उरुक्रमः उरुगाय" आदि विशेषणों से अलंकृत किया गया है ।

वरुण -

ऋग्वेद के प्रमुख देवों इन्द्र तथा अग्नि की पंक्ति में आसीन वरुण देवता की विशेषताएं शुक्लयजुर्वेद में यद्यपि अपरिवर्तित है किन्तु वर्णन का अनुपात अपेक्षाकृत अल्प है । इन्द्र तथा सोम की तरह वरुण भी देवों का राजा है । उसके अभिषेक का भी वर्णन मिलता है -

"निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा साम्राज्याय सुक्रतुः"[3]
दृढ़ व्रत वाला अच्छे यज्ञवाला राजा वरुण साम्राज्य के लिये अपने सिंहासन पर बैठा सम्भवतः इन्द्र काल विशेष के लिये निर्वाचित राजा था तथा वरुण सार्वकालिक था।

1- शुक्लयजुर्वेद - 7.20 ।

2- " - 20.2 ।

3- " - 20.2 ।

अग्नि तथा इन्द्र के साथ वह देवों का सेनापतित्व भी करता है वह देवों का प्रेरक है मेष इसका पशु है वरुण ने सूर्य के लिये मार्ग प्रशस्त किया है -

"ऊरुहिं राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ"[1]

राजा वरुण ने सूर्य के लिये विस्तृत मार्ग बनाया है । मित्र तथा वरुण को क्रमशः प्राण तथा अपान से भी समीकृत किया गया है वरुण धर्मपती है । तथा धर्मधारक होने के कारण वे क्षत्र" भी कहे गये हैं -

"क्षत्रं वै वरुणो"[2]

वरुण क्रोधी है इसलिये वरुण से क्रोध न करते हुये यज्ञ में आने की कामना की गयी है -

"अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशँ स मानआयु प्रमोषीः"[3]

हे वरुण तुम क्रोध मत करो और तुम हमारी आयु को समाप्त मत कर दो । वरुण को "धृतव्रत" कहे जाने से अनुमान लगाया जा सकता है कि व्रतों को धारण करना राजा का गुण माना गया होगा और उसी को राजा नियुक्त किया जाता होगा जो जन समूह के समक्ष उन कर्मों या नियमों को पालन करने की प्रतिज्ञा करता होगा जो राजपद के लिये आवश्यक होते थे । वरुण मानवों के नैतिक आचरण का द्रष्टा था । वह मानवों को उनके पापों के लिये दण्डित करता था उन्हें वह अपने पाशों से बाँधता है ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 8.23 ।

2- शतपथ - 9.4.2.16 ।

3- शुक्लयजुर्वेद - 18.49 ।

"नमो वरुणायाधिष्ठितो वरुणस्य पाशः"[1]

शतपथ में वरुण के पाश "वरुण्या" से प्रजा के मुक्त किये जाने का भी उल्लेख मिलता है । अतः उक्त धर्मपति विशेषण वरुण को न्यायकर्ता की पीठिका भी प्रदान करता है ।

सविता सूर्य तथा आदित्य -

देवों को महान कार्यों के लिये प्रेरणा देना सविता देव का प्रमुख कर्तृत्व है यही उनका देवत्व भी है -

"सविता वै देवानां प्रसविता"[2]

बृहस्पति जब प्रेरणारहित हो गया तो उसे प्राप्त करने के लिये सविता की ओर दौड़ा । सविता यज्ञ का भी प्रेरक है ।

"देव सवितः प्रसुव यज्ञ"[3]

वह ऋत का अनुगामी है वह प्राणियों के पापों तथा दोषों को दूर करके उन्हें निर्दोष बनाता है ।

"विश्वानि देव सवित दुरितानि परासुव
यद भद्र तन्न आसुव"[4]

हे सवितां देव तुम हमसे समस्त दुर्गुणों को दूर करो । जो शुभ गुण है वे हमें प्राप्त

1- शुक्लयजुर्वेद - 8.23 ।

2- शतपथ - 1.1.2.17 ।

3- शुक्लयजुर्वेद - 30.1 ।

4- शुक्लयजुर्वेद - 30.3 ।

कराओ । ऋग्वेद की भाँति इन्हें हिरण्यपाणि भी कहा गया है एक अन्य मन्त्र में सविता देव को सुंदर अंगुली तथा सुंदर बाहुवाला भी कहा गया है -

"देवस्य त्वा सवितोद्भवतु सुपाणिः स्वङ्‌गुरिःसुबाहुरुत शक्त्या"[1]

हे उरवे सुन्दर हाथों वाला सुन्दर अंगुलियों वाला और सुन्दर बाहुओं वाला द्योतमान सविता देव अपनी शक्ति से तुम्हें गर्त के बाहर करे । सविता का सम्बन्ध प्रातःकाल के समान सांयकाल से भी है क्योंकि उन्हीं के आदेश पर रात्रि का आगमन होता है ।

"हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते । अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा धामृणोति"[2]

सुनहली किरणों वाला" विशिष्टरूप से प्रजाओं को देखने वाला सविता देव द्यावा-पृथिवी दोनों के अन्दर गति करता है उदय होकर वह व्याधि को दूर करता है जब सूर्य डूबता है तब अपने कृष्ण प्रकाश के द्वारा द्यौ को रिक्त सी बना देता है । सविता देव सुमति को बढ़ाने वाला है तथा दानी है । अतः विश्व में गति को संचार करने तथा प्रेरणा देने वाले सूर्य का प्र तिनिधि है । सविता को सविता को विश्वदेवों का नेता भी कहा गया है हिन्दुओं के गायत्री मन का उपास्य यही सविता देवता है ।

सूर्यदेव ही जब प्रेरक कार्य करते है तो सविता कहलाते हैं तथा अदिति के पुत्र होने के कारण आदित्य कहलाते हैं -

"ते हि पुत्रासो अदितेः प्रजोवसे मर्त्याय ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्"[3]

1- शुक्लयजुर्वेद - 11.63 ।

2- " - 34.25 ।

3- " - 3.33 ।

अदिति के वे पुत्र जीवनार्थ मनुष्य के लिये सतत ज्योति प्रदान करते हैं । अग्नि वायु तथा आदित्य ही विश्वज्योति है । सूर्य की किरणें सब कुछ पवित्र बना देती है । सूर्य अपने प्रकाश से सत् और असत् को भी अभिव्यक्त करता है ।

"ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः स बुध्न्या-उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिम सतश्च विवः"[1]

पूर्व दिशा में सुन्दर किरणों वाला और कमनीय महत् सूर्य सर्वप्रथम प्रकट होता है । वह प्रकट होकर अन्तरिक्ष में पास-पास विद्यमान परन्तु अस्पष्ट तथा उसमें समाहित सत् तथा असत् को भी स्वप्रकाश से अभिव्यक्त करता है । सूर्य सम्पूर्ण ऋतुओं का प्रतीक है इसका उदय बसन्त संगव ग्रीष्म मध्यंदिन वर्षा अपराह्न शरद तथा अस्त-कालीन स्थिति में हेमन्त ऋतु है । सूर्य अपने प्रकाश से आठो दिशाओं तीनों लोकों को प्रकाशित करता है -

"अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्यास्त्रीधन्व योजना सप्त सिन्धुन"[2]

सुनहली किरणों वाला सूर्य पृथ्वी से सम्बन्धित आठों दिशाओं को तीनों अन्त-रिक्षों को योजनो दूर प्रदेशों को तथा सातों विशाल सागरों को प्रकाशित करता है । विराट् पुरुष के चक्षु से सूर्य की उत्पत्ति हुयी है ।

"चक्षसो सूर्यो अजायत्"[3]

सुनहली किरणें ही सूर्य देव का हाथ है आदित्य-महान् है, आदित्य की परिचर्या सम्पूर्ण जगत् करता है ।

"यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सो अज्यते रयिः"[4]

1- शुक्लयजुर्वेद - 13.3 ।
2- " - 34.24 ।
3- " - 31.12 ।
4- " - 33.82 ।

जिस आदित्य का यह आर्य भगत दास सा परिचर्यारत है और धन बचाने वाला शत्रु है हिंसक और व्रज से कठोर धनों में जो धन छिपा है । वह धन भी है आदित्य तुम्हारे लिये ही संचित होता है । यह आदित्य समुद्र के समान विस्तार को प्राप्त हुआ सहस्त्रों ऋषि आदित्य की स्तुति करते हैं । आदित्य को विवस्वान भी कहा गया है ।

<u>बृहस्पति</u> -

बृहस्पति देवों के पुरोहित कहे गये हैं । पुरोहितों में भी ब्रह्मा से समीकरण द्रष्टव्य है तैत्तिरीय संहिता भी समर्थन करती है ।

"बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्म्"[1]

शुक्लयजुर्वेद में अनेक स्थलों पर बृहस्पति को ब्रह्म भी कहा गया है ।

"सोमान स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते"[2]

हे बृहस्पते तुम सोम के अभिषवकर्ता तथा स्तोता को कक्षीवान् के समान बनाओ । बृहस्पति वाक्पति भी है वह द्युम्न भी है द्युम्न का अभिप्राय वाणी का तेज ही है जिसके द्वारा उन्हें पौरोहित्य कर्म में सर्वोच्च ब्रह्मा पद प्राप्त हुआ है । वाजपेय यज्ञ में बृहस्पति से अन्न विजय की कामना की गयी है ।

"बृहस्पते वाजं वय बृहस्पतेय वाचं वदत बृहस्पतिं वाजं जापयत्"[3]

1- तैत्तिरीय संहिता - 1.7.1.5 ।

2- शुक्लयजुर्वेद - 3.28 ।

3- शुक्लयजुर्वेद - 9.11

हे बृहस्पते तुम अन्न को विजय करो । हे दुन्दुभिओं तुम बृहस्पति के लिये ध्वनित होओ । तुम बृहस्पतिसे अन्न विजय कराओ ।

वायु -

शतपथ वायु की स्पष्ट व्याख्या करता है -

"अयं वै वायु मातरिश्वा योऽयं पवते"[1]

अर्थात् यह अन्तरिक्ष में बहती है शु0 में वायु को विश्वकर्मा भी कहा गया है -

"अयं दक्षिणा विश्वकर्मा
तस्य मनो वैश्वकर्मण "[2]

सर्वस्त्रष्टा यह वायु दक्षिण दिशा में अत्यंत वेगशाली होता है शुक्लयजुर्वेद में वायु के कई नामों का वर्णन किया गया है -

"समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा सरिराय"[3]

"त्वा वाताय स्वाहा प्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा"

समुद्र रूप वायु के लिये हे धर्म तुम स्वाहा हो सहगति वायु के लिये हे धर्म तुम स्वाहा हो अप्रहर्षि वायु के लिये हे धर्म तुम स्वाहा हो । अग्नि वायु तथा आदित्य को क्रमशः मर्गः, महः, तथा यज्ञः कहा जाना वायु को शक्ति का प्रतीक सिद्ध करता है । वायु भी सोमरस का पान करते हैं । यज्ञ में वायु को भी सोमरस प्रस्तुत किया जाता है ।

1- शपतथ - 6. 4. 34 ।

2- शुक्लयजुर्वेद -

3- शुक्लयजुर्वेद -

"आ नो यज्ञ दिवि स्पृशं वायो याहि सुमन्मभिः"[1]

हे वायो सत्स्तोमो के द्वारा स्वर्ग को स्पर्श करने वाले हमारे यज्ञ को तुम प्राप्त होओ वायु से कामना की गयी है वायु हमारे लिये सुखकर हो ।

"शं नो वातः पवता"

शुक्ल यजुर्वेद में वायु का विस्तृत वर्णन प्राप्त है किन्तु वर्णन का मुख्य आधार उसका भौतिक एवं वैज्ञानिक पक्ष है जिसमें वायु की अनिवार्यता को प्रतिपादित किया गया है ।

रुद्र -

रुद्र देवता का शुक्लयजुर्वेदीय विवरण ऋग्वेद से अत्यधिक भिन्न है । यद्यपि साम्य के कतिपय संकेत भी मिल जाते हैं रुद्र पशुओं का अधिपति है ।

"पशूनां पतये नमो नमः"[2]

वह क्षत्रत्व से युक्त देवता है देवों का अन्न अर्क है जिसके पर्ण पर रुद्र को हवि देने का विधान है ।

"जर्तिलैश्चारण्यतिलैमिश्रान गवेधुकासत्तूनर्क पत्रेण जुहोति"[3]

रुद्र की बहन अम्बिका है, रुद्र का पशु चूहा है ।

"एष ते रुद्र भागः सह स्वाम्बिकया तं"[4]

जुषस्व स्वाहैष ते रुद्रं भाग आखुस्ते पशु"

1- शुक्लयजुर्वेद -

2- " - 16.17 ।

3- " - 16.1 ।

4- " - 3.57 ।

हे रुद्र यह अतिरिक्त पुरोडाश तुम्हारा हविरांश है अपनी बहन अम्बिका के साथ तुम उसका सेवन करो । रुद्र के लिये यह आहुति है । रुद्र यही तुम्हारा हविरान्न है वह तुम्हारा पशु है । रुद्र के लिये त्र्यम्बक यज्ञ करने का आदेश दिया गया है । त्र्यम्ब क हवि चौराहे पर रखी जाती थी परवर्ती काल में त्र्यम्बक शिव का विशेषण बन गया ।

"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्"[1]

सुगन्धियुक्त तथा अन्नादि के पुष्टि को बढ़ाने वाले त्रिनेत्र शिव को हम भजन करते हैं । शुक्लयजुर्वेद के शतरुद्रीय में रुद्र के शत पक्षों एवं उपाधियों का विस्तृत विवरण मिलता है । शतरुद्रीय में वर्णित रुद्र को अग्नि कहा गया है रुद्र का ही विशिष्ट रूप है । प्रजापति ने संवत्सर भर में कुमार को जन्म दिया वह जन्म लेते हैं रुदन करने लगा । अत: रुद्र कहलाया यह रुद्र की निर्वचनात्मक व्याख्या है । रुद्र का अस्त्र धनुष है । रुद्र के धनुष का नाम पिनाक है । रुद्र हस्ति चर्म धारण करता है ।

"एतते रुद्राऽवसं तेन परो मूजवतोऽतीहि अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि"[2]

हे रुद्र यह अतिरिक्त पुरोडाश तुम्हारा मार्ग का भोजन है । तुम उसके साथ दूर मुन्जवान पर्वत से भी पूरे चले जाओ अपने पिनाक पर से ज्या को उतारे हुये पिनाक को ही शम्बल कल्पित करके हस्तिचर्म को धारण किये हुये हमें हिंसित न करते हुये उस ओर चल दो । सृष्टि के सृजन का कारण अग्नि है । अत: रुद्र

1- शुक्लयजुर्वेद - 3·60 ।

2- " - 3·61 ।

अग्नि रूप है। रुद्र अग्नि के शर्व, भव, पशुपति तीन अन्य नाम कहे गये हैं -

"नमो भवाय च रुद्राय च नमः
शर्वाय च पशुपतये च"[1]

इस प्रकार अग्नि से संयुक्त रुद्र में अनेक विशिष्ट पक्षों का विकास द्रष्टव्य है ।

पूषन -

पूषन देव का सम्बन्ध पशुओं से है वह "भागदुघ" है अतः उसके दो हाथ कहे गये हैं पूषन अदन्तक है मार्गों के रक्षक पूषन को पृथ्वी से समीकृत किया गया है -

"पूषाऽध्वनस्पातु"[2]

वायु पूषन की गति है ।

"अयं वै पूषा योयं पवते एषहीदं सर्वं पुष्यत्येष उः प्राणः प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति"[3]

पूषन ही विश्वदेवा है ।

अश्विन -

अश्विनों का युग्म है इन्हें शुग अधिकतर भिषगों के रूप में प्रस्तुत करता है।

"देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना"[4]

देवों ने यज्ञ को विस्तारित किया । अश्विनौ वैद्यो ने यज्ञ में भेषज्य किया । नमुचि असुर के साथ यह सोम पीते हैं । नमुचि असुर के द्वारा शक्तिरहित किये जाने पर इन्द्र को

1- शुक्लयजुर्वेद - 16·28 ।
2- " - 4·19 ।
3- " - 38·15 महीधर भाष्य ।
4- " - 19·12

इन्होंने पुनः शक्ति प्रदान की ।

"युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे स चा
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम"[1]

छककर पीने वाले शुभ यज्ञादि कर्म के पावक हे अश्विनौ नमुचि असुर से संगत होकर तुमने सोम पिया था । पीने के अनन्तर शुद्ध करके उस सोम को इन्द्र को दिया था इस प्रकार तुम दोनों ने इन्द्र को स्वकर्म करने को में सक्षम बनाया था । पृथ्वी पर यह चिकित्सा करते हुये घूमते हैं इन्हें द्यौ तथा पृथ्वी से समीकृत किया गया है । अश्विनौ देवों के अध्वर्यु है ये सोम की अपेक्षा मधु ज्यादा पीते-हैं ।

"दैव्यावध्वर्यु आगत"[2]

अश्विनौ का जुआ न खेलने रक्षा तथा वृद्धि के लिये भी आह्वान किया गया है ।

"अधूत्येऽवसे निह्नये वां वृधे नो भवतं"[3]

अश्विनौ देवताओं के वैद्य हैं।

विश्वेदेवा: -

विश्वेदेवं शुक्लयजुर्वेद में बृहस्पति के साथ धर्म नामक हवि ग्रहण करते हैं ।

"बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते स्वाहा"[4]

1- शुक्लयजुर्वेद - 10·33 ।

2- " - 33·33 ।

3- " - 34·29 ।

4- " - 38·8 ।

विश्वदेवों से युक्त वृहस्पति के लिये हे धर्म तुम स्वाहा हो । सूर्य की रश्मियों तथा ऋतुओं आदि को भी विश्वदेवा: कहा गया है । पुन: ये "विश" का प्रतिनिधित्व करने वाले पृथक देवता के रूप में स्थापित हो गए वाक् से उत्पन्न विश्वेदेव चन्द्रमा के साथ दिशाओं में स्थापित हुए । प्राण ही विश्वेदेव हैं इन्हें मरुतों का सलाहार कहा गया है ।

देवियाँ -

इन देवों के अतिरिक्त अनेक देवियों की स्थिति भी सामने आती है इन्द्र पत्नी इन्द्राणी का अनेक बार उल्लेख हुआ है शतपथ में भी वर्णन मिलता है ।

"इन्द्राणी ह वा इन्द्रस्य प्रिया पत्नी"[1]

शुक्ल यजुर्वेद में भी इन्द्राणी का उल्लेख हुआ है -

"इन्द्राण्या उष्णीष:"[2]

किन्तु ऋग्वेद का "सधवा" विशेषण उसे देवी की अपेक्षा पत्नी सिद्ध करता है । देवियों में सर्वप्रमुख पृथिवी हैजिसे भारती इडा तथा सरस्वती भी कहा गया है । शुक्लयजुर्वेद में पृथ्वी प्रार्थना की गयी है कि हे पृथिवी माता तू मुझे दु:ख न दे और मैं तुझे दु:ख न दूँ ।

"पृथिवी" मातर्मा हिंसीमोर्ऽअहंत्वाम्"[3]

1- शतपथ - 14·2·18 ।

2- शुक्लयजुर्वेद - 38·3 ।

3- " - 10·23 ।

पृथिवी की महिमा विविध रूपों में उपलब्ध है पृथिवी प्रथमजन्मा है उसे "प्रथमजा"[1] कहा गया है पृथिवीतीन है जिनमें दृष्टगत प्रस्तुत पृथिवी ही उच्चतमा है शतपथ में वर्णित है कि पृथिवी ही प्रतिष्ठा है सम्भवत: इसलिये कि मानव को स्वर्ग आदि लोकों में घूम- फिरकर पुण्य क्षय होने के उपरान्त भी यही जन्म लेना पड़ता है ।

" इयमु वै पृथिवी प्रतिष्ठा:"[2]

यह पृथिवी ही अदिति कहलाती है दिति तथा अदिति दो देवियां है जिनमें अदिति उभय शीर्ष्णी है ।

" अदितिस्युभयत: शीर्ष्णी"[3]

पृथिवी ही धेनु है क्यों कि यह धेनु की तरह मनुष्यों की सभी कामनाओं को पूरा करती है विभिन्न प्रकार के पेड़- पौधों से चित्रित होने के कारण यह पृथिवी पृश्नि है ।

वाक् की देवी सरस्वती है इनका पशु मेष है वाक् को बारम्बार सरस्वती कहा गया है इसीलिये परवर्ती काल में सरस्वती विद्या की देवी के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी -

" महो अर्ण: सरस्वती प्रचेतयाति केतुना[4] "

1· शुक्लयजुर्वेद 37·4

2· शतपथ 2,9·3:11

3· शुक्लयजुर्वेद 4·19

4· शुक्लयजुर्वेद 20·86

धियो विश्वा विराजति "

अपने ज्ञान या कर्म के द्वारा सरस्वती महद् जल को प्रकाशित करती है और सर्व-प्राणिस्थ बुद्धियों को प्रदीपित करती है । जहाँ सरस्वती को वाक् कहा गया है तो मन को सरस्वान मन् तथा वाक् दोनों ही विद्या के उत्स हैं ।

" समाड़सि स्वराऽसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम्"[1]

तुम सम्राट और स्वयंरात् हो सरस्वती के स्त्रोत मन और वाणी तुम्हारी रक्षा करें ।

तीसरे देवी इडा है जो मनु की दुहिता है शतपथ में वर्णित है कि इडा गौ है श्रद्धा है । निरुक्त में इसे पृथ्वी स्थानीय अग्नि कहा गया है[2] । हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार जयशंकर प्रसाद रचित कामायनी महाकाव्य के श्रद्धा इडा मनु आदि पात्र शतपथ से ही गृहीत प्रतीत होते हैं । शुक्लयजुर्वेद में अम्बा अम्बिके, अम्बालिके[3] से बोधन भी प्राप्त है जिनका पार्वती के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं कहना कठिन है किन्तु यह स्पष्ट है कि यहाँ देवियों को ही संबोधित किया गया है ।

निष्कर्षत: देव सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहना समीचीन प्रतीत होता है कि ऋग्वेद तथा शुक्लयजुर्वेद में देव समाज यथावत् है किन्तु कतिपय पूर्ववर्ती गौण देवता" यथा विष्णु रूद्र आदि महत्तर प्रभुत्त्व को प्राप्त हुये है।यज्ञ के प्रधान आधार अग्निदेव का चरित्र पूर्वापेक्षा विविधता पूर्ण दिखाई देता है । पौधे के रूप में सोम की अनुपलब्धि के कारण ~~सोम के अनुपलब्धि के कारण~~ सोम के दार्शनिक एवं प्रतीक

1· शुक्लयजुर्वेद 13:35

2· निरुक्त 8·2·10

3· शुक्लयजुर्वेद 23:18

पक्ष[1] को अधिक उभरा हुआ देखा जा सकता है । वरुण के व्यक्तित्व का शनैः शनैः ह्रास भी स्पष्ट परिलक्षित है । परवर्ती वैष्णव एवं शैव धर्मों के सर्वप्रमुख देवता विष्णु एवं शिव की चारित्रिक विशेषताएं शुक्लयजुर्वेद में सामूहिक रूप में उपलब्ध होती है शु0 में देवताओं के मानवीकरण की अपेक्षा देवों के प्रकृति गत उपयोगी एवं हितकारी स्वरूप को प्रशस्त करने का प्रयास किया गया है ।

मानव -

प्रजापति के मनस् से मनुष्य उत्पन्न हुआ । किन्तु उसका अपना स्वरूप मृद है अर्थात् मानव मिट्टी की पुतला है शुक्लयजुर्वेद में मानव राजा मनु वैवस्वत की प्रजा है इसका भी संकेत मिलता है ।

" प्रजापतये मनवे स्वाहा"[1]

" मनु वैवस्वतो राजेत्याह । तस्य मनुष्या विशस्त"[2]

यद्यपि " मनुष्य यज्ञ" को पंच महायज्ञों में स्थान प्रदान कर मानव को समादृत किया गया है, फिर भी चारित्रिक दृष्टि से उसे अनृत ही कहा गया है शतपथ में वर्णन है-

" द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतच सत्यमेव देवाः अनृत मनुष्याः"[3]

1· शुक्लयजुर्वेद 11:66

2· शतपथ 13·4·33

3· शतपथ 3·3·2·2

अनृत कहे जाने का कारण मानव का शाश्वत नियमों, (ऋत) की अवहेलना करना प्रतीत होता है। मानव को पुन: पुन: "अनृत" कहा जाना मानवीय अनियमितताओं के बाहुल्य का संकेतक है देवों तथा मानवों के चरित्र को अनेक विशेषताएं प्रत्यक्षीकृत है। देवों का अनुकरण पक्षी औषधि एवं वनस्पतियां करते हैं किन्तु मनुष्य का अनुकरण केवल पशुगण करते हैं -

" मनुष्याननु पशवो देवाननु वायास्योषधयो
वनस्पतयो"[1]

यह कथन भी मानवीय अनियमिताओं को ही इंगित करता है देवों का श्रम तथा तप सम्बन्धी गुण मनुष्य के लिये अनुकरणीय है।

मानव की विशेषता-

त्रिविध शक्तियों का सन्निवेश मानव की प्रमुख विशेषता है। वे शक्तियां है मानसिक शक्ति बाहु शक्ति एवं बौद्धिक शक्ति। शुक्ल यजुर्वेद में इन तीनों शक्तियों का संकेत मिलता है।

" उखां कृणोति शक्त्या बाहुभ्याम दितिर्धिया "[2]

अदिति देवी अपनी बुद्धि और शक्ति के सामंजस्य के साथ स्वबाहुओं से उखा को बनावे। यही विशेषता उसे इतर प्राणियों से पृथक कर उसे विशिष्ट एवं महनीय बना देती है।

---

1. शतपथ 3-6 2 26

2. शुक्लयजुर्वेद 11·66

यश लिप्सा मानव की द्वितीय विशेषता है । यश की भूख को मिटाने का तत्कालीन साधन ज्ञानोपार्जन अथवा यज्ञ सम्पादन था । देव पितर या मनुष्य किसी को भी संतुष्ट न करने वाला मनुष्य" अनद्धा पुरूष"[1] कहा जाता था । यद्यपि मनुष्य से ऋतगामी होने की अपेक्षा की गयी है किन्तु सत्य का अनुसरण करने वाले व्यक्ति के कष्टों का भी वर्णन किया गया । सत्य पर चलने वाला तुच्छता एवं दरिद्रता को प्राप्त हो जाता है -

" य आसक्ति सत्यं वदति एषावीरतर इवैव भवति अनाद्रृयतर[2] इव "

देव परिश्रम से सत्य बोलकर बहुत निन्दित और दरिद्र हो गये ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तत्कालीन मानव का स्वयं के प्रति दृष्टिकोण यथार्थवादी एवं सुलझा हुआ था । मानवीय दुर्बलताओं के फलस्वरूप मिलने वाले क्षणिक सुखों तथा संयम के फलस्वरूप मिलने वाले स्थायी सुखों का उन्हें पूर्ण परिचय था किन्तु स्थायी सुखों की प्राप्ति पर ही बल दिया गया है । प्राकृत नियमानुसार जीवन यापन पर बल दिया गया है ।

" ऋतस्य यथा प्रेत "

असुर-

शुक्ल यजुर्वेद में असुर देवों के प्रतिद्वन्द्वी शत्रुओं के रूप वर्णित है । असुर मायावी

1· शुक्लयजुर्वेद 11·47

2· शतपथ 9·5·1·16

थे अत: इस लोक में लोहे के अंतरिक्ष में चाँदी के तथा द्युलोक में सोने के पुर बनाते थे वे अपनी माया से कभी सूक्ष्म रूप धर लेते थे -

" ये रूपाणि प्रतिमन्चुमाया असुरा: "
सन्त: स्वध्या चरन्ति [1] "

विविध स्वरूपों को धारण कर जो असुर जन पितरों की स्वधा के भक्षण के द्वारा स्वजीवन धारण करते हैं । अन्यत्र दूसरे स्थल पर भी आसुरी माया का वर्णन मिलता है भौतिकतावाद मनोवृत्ति के होने के कारण असुर ही पृथ्वीलोक का भोग करते थे असुरों का सम्बन्ध दक्षिण दिशा से है भी था क्यों कि इन्द्र तथा बृहस्पति द्वारा असुरों को दक्षिण से भगाने का उल्लेख किया गया है ।

रक्षस् -

देवों को यज्ञ करने से राक्षसों ने रोका अत: रक्षस कहलाये रक्ष् धातु का अर्थ रोकने से है । ये यज्ञ में विघ्न डालकर आर्यों को सताते थे । रक्षसों को कुत्सित हृदय वाला कहा गया है ये अन्तरिक्ष में मूलरहित होकर विचरते थे -

" उर्वन्तरिमन्वेमीत्यन्तरिक्ष [2] "

बलवान होते हुये भी देवता देवता इनसें भय खाते थे । इसलिये यज्ञ शुरू करने से पूर्व ही इनको भगाने का कार्य करने लगते थे सूप और हवणी को आग में तपाते है है यह मन्त्र बोलकर -

---

1. शुक्लयजुर्वेद 2·30

2. शुक्लयजुर्वेद 1·7

" प्रत्युष्ट रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो"[1]

यह भय अस्वाभाविक नहीं है क्यों कि दुष्ट ग्रहों से भयभीत होना सृष्टि की अविछिन्न परम्परा रही है किन्तु याज्ञिकों ने इन्हें दूर भगाने का रहस्य भी जान लिया था-

"अग्निर्हिरक्षसामपहन्ता"

अर्थात् अग्नि ही राक्षसों को भगाने वाला है ब्रह्म॥ ज्ञान॥ भी राक्षसों को दूर करने वाला है इस ज्ञान से ही देवों ने " अरूरु" नाम के असुर-रक्षस को पृथिवी से भगा दिया था । मनु के वृषभ की आवाज सुनकर भी ये भाग जाते थे अतः अग्नि तथा वाक् दोनों असुर रक्षसों को डराने के प्रमुख साधन थे । आर्यों के पास हेति तथा प्रहेति अस्थ भी थे जिनसे वे क्रमशः यातुधानों तथा राक्षसों को मारते थे-

"यातुधानं हेति रक्षांसि प्रहेतिः"[2]

वृत्र -

असुरों में सर्वाधिक विख्यात" वृत्र-" है जिसका उल्लेख ऋग्वेद में भी इन्द्र के शत्रु के रूप में पुनः मिलता है निरूक्त के अनुसार वृत्र न तो रक्षस था न असुर-रक्षस । अपितु त्वष्टा का पुत्र असुर था" तत्कोवृत्रः । मेघ इति नैरूक्ताः

त्वष्ट्रो असुर इति ऐतिहासिका"[3]

शतपथ में त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप है वृत्र तथा विश्वरूप के साम्य की संभावना

---

1. शुक्लयजुर्वेद 1.7

2. शुक्लयजुर्वेद 15.16

3. निरूक्त 2.5

गवेषणा का विषय है । शुक्लयजुर्वेद में भी इन्द्र द्वारा वृत्र को मारने का वर्णन मिलता है ।

" त्रिभिर्देवैस्त्रिंशता वज्रबाहुर्जघान वृत्रं "[1]

तैंतीस देवों के साथ वज्रवाहु इन्द्र ने वृत्र को मार डाला और नदियों के बन्द द्वारों को खोल दिया । मेघ अर्थ में भी वृत्र की व्याख्या स्पष्ट है ।

" स इदं सर्वं वृत्वा शिश्येतस्माद् वृत्रो नाम"[2]

यहाँ इन्द्र द्वारा वज्र से मारना फलस्वरूपजलों का बहना इसे मेघ का प्रतीक ही प्रदर्शित करता है । वृत्र पाप है वह कल्याणकारी कार्यों में विघ्न उत्पन्न करके प्रसन्नता का अनुभव करता है । चक्षु के मध्य स्थित कनीनिका को भी वृत्र कहा गया है ।

शंडा मर्क -

देवों के पुरोहित बृहस्पति के सदृश असुरों का पुरोहित मर्क था जिसका शंड के साथ उल्लेख मिलता है ।

उपयाग गृहीतोऽसि शण्डाय

त्वेष ते योनि वीरतां वाह्यमृष्ट: शण्डो

हे शुक्र ग्रह तुम उपयाम के द्वारा ग्रहण किये गये हो । हे ग्रह मैं तुम्हें शण्ड को निकालने के निमित्त ग्रहण करता हूँ । यह तुम्हारा स्थान है । ये दोनों असुर रक्षस थे जिनके लिये यज्ञ में दो ग्रहों के ग्रहण का विधान है ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 20·36 ।

2- शतपथ - 1·1·3·4 ।

नमुचि -

नमुचि भी एक असुर के रूप में शुक्लयजुर्वेद में वर्णित है । शतपथ कार इसे "पाम्मा" कहता है तथा इन्द्र के द्वारा इसके मारे जाने का वर्णन करता है यह अश्विनों के साथ सोमपान करता है ।

उपर्युक्त असुर रक्षस सम्बन्धी विवरण असुरों को आर्य विरोधी व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत करताहै। आर्यों के विरोधी असुर, दानव, रक्षस आदि का समान उद्देश्य था । निहित स्वार्थों के कारण इनका आपस में सम्बन्ध होना आश्चर्यजनक नहीं अपितु स्वाभाविक है ।

आचार और संस्कार

चरित्र की श्रेष्ठता वैदिक संस्कृति का मूल है । इस चारित्रिक श्रेष्ठता के उपादान हैं, नैतिकता शील सदाचार और मर्यादा । चारित्रिक श्रेष्ठता समस्त विषयों शास्त्रों और धर्मों का आधार है । वह एक सामान्य राष्ट्रधर्म है जिसके परिपालन के बिना राष्ट्र का उत्थान संभव नहीं है । वैदिक ऋषि महर्षियों से लेकर परवर्ती सन्त महात्माओं ने राष्ट्र के चारित्रिक बल को सुदृढ़ बनाये रखने के लिये समय-समय पर अनेक कार्य किये । चारित्रिक श्रेष्ठता से आत्म-बल प्राप्त होता है और आत्मबल के लिये नैतिकता और सदाचार का परिपालन आवश्यक है । भारतीय ज्ञान-विज्ञान कला साहित्य धर्म संस्कृति सभ्यता आदि प्रायः सभी तत्वों का उद्गम स्थल और आधारभूत ग्रन्थ वेद ही हैं । पृथ्वी के किसी भी स्थल पर निवास करने वाला हिन्दू अपने धर्म और संस्कृति का मूल वेदों मे ही बताता है । प्रायः सभ्यता और संस्कृति का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितनी मानव जाति/आर्यों का इतिहास उतना ही प्राचीन मानना चाहिये जितने प्राचीन वेद । आज भी धार्मिक कृत्यों और सामाजिक समारोहों पर हिन्दुओं के घरों में वेद मन्त्रों का उच्चारण अत्यधिक श्रद्धा से किया जाता है । भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से धर्म दर्शन सदाचार ईश्वरोपासना के सम्बन्ध में विचार प्रकाशित करने वालों ने अपने मत का आधार वेदों को ही माना है ।

भारतीय परम्परा और वर्गीकरण के अनुसार वेदों के तीन प्रमुख भाग हैं कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड इन तीनों के अन्तर्गत प्रायः जीवन के सभी अंग समाविष्ट हो जाते हैं । आचार के सिद्धान्तों के रूप में नीति भी इनमें समाहित हो जाती है ।

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि अन्य ज्ञान, विज्ञान, कला

संस्कृति आदि की भाँति नीति अथवा आचार का प्रथम उन्मेष भी ॠग्वेद में प्राप्त होता है । कुछ विद्वान् वेदों को नीति सिद्धान्तों से रहित मानते हुये कहते हैं कि "ॠग्वेद में प्रायः देवताओं के प्रति लिखी गई स्तुतियाँ हैं नीति और उपदेश से इसका कोई भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है । वस्तुतः अधिकांश वैदिक मन्त्रों में देवताओं की स्तुतियों प्रार्थनाओं तथा धार्मिक कृत्यों का वर्णन मिलता है । अतः सभी विषयों का वर्णन देव पद के अन्तर्गत हुआ है । नीति का उद्गम और विकास भी इसी आश्रय में खोजना होगा । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इसके अतिरिक्त भी वेद मन्त्रों में स्पष्ट और स्वतंत्र नीति निर्देश प्राप्त होते हैं ।

प्रायः देखने में आता है कि स्तुतिकर्ता अपने अंदर विद्यमान अथवा अभीष्ट गुणों से ही अपने देवताओं को वर्णित करते हैं । वैदिक देवताओं की चारित्रिक विशेषताओं पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि इनके स्तोता ॠत, सत्य, अहिंसा, मैत्री दान दया ज्ञान आदि नैतिक भावनाओं से ओत प्रोत है । फलतः उनके द्वारा स्तुत्य देवता स्वयं व्रत निष्ठ हैं तथा प्राणिमात्र को व्रत एवं सदाचार की प्रेरणा देते हैं ।

ॠत -

ॠग्वेद में ॠत की बड़ी मनोरम कल्पना है। ॠत का सिद्धान्त सर्वप्रथम ॠग्वेद में ही आया प्रतीत होता है । निरूक्तकार यास्क ने "ॠत" का अर्थ उदक, सत्य, एवं यज्ञ किया है ।

"ॠतमित्युदकनाम[1]

"सत्यं वा यज्ञं वा

शुक्ल यजुर्वेद में कामना की[2] गयी हैं ।

1- निरूक्त 2.25

2- निरूक्त 4.19

"ऋत च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च

मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे

दीर्घायुत्वं ----------- च मे यज्ञेनकल्पन्ताम्"[1]

अर्थात् ऋत अमृत अरोगत्व अनामयत्व, जीवन दीर्घायुष्य आदि सब मुझे यज्ञ से ही प्राप्त होवें । वैदिक मन्त्रों में देवों को ऋत धारण करने वाला कहा गया है । ऋत के मार्ग पर चलने वाले के लिये प्राकृतिक शक्तियाँ भी सुख उपलब्ध कराने में सहायक होती हैं ।

"मधु वाता ऋतायते

मधु क्षरन्ति सिन्धवः

माध्वीर्न सन्त्वोषधी"[2]

ऋत की कामना करने वाले यजमान के लिये वायु मधुर होकर बहती है और उसके लिये नदियाँ मधुर जल बहती हैं । हमारे लिये ओषधियाँ मधुर होवें । वैदिक संहिताएँ स्पष्ट करती हैं कि ऋत केवल इहलोक में ही विभिन्न उपलब्धियों का साधन नहीं है अपितु परलोक में भी सुगति प्राप्त करता है । "ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः पितृन्तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात्[3] ।

मृतक व्यक्ति के स्वजन यम से प्रार्थना करते हैं कि "यह (मृतक) उन पितरों के पास पहुँचे जिन्होंने पहले ऋत का आचरण किया है जो ऋत से युक्त है ऋत की वृद्धि करने वाले और तपस्वी हैं । शुक्लयजुर्वेद में स्थान-स्थान पर यह उद्घोष किया गया है कि प्राकृत नियमानुसार अर्थात् ऋत के अनुसार जीवन व्यतीतकरो

1- शुक्लयजुर्वेद 18. 6

2- " "

3- ऋग्वेद 10. 154. 4

"ऋतस्य पथा प्रेत"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से वैदिक काल में ऋत का महत्त्व भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है । ऋत दैवी जगत् का ऐसा शाश्वत एवं अटल विधान है जिसके अधीन धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक तत्त्व मर्यादित होकर अपने-अपने कर्म में संलग्न हैं ।

सत्य - वैदिक ऋषि की मान्यता है कि सत्य पर ही भूमि टिकी हुई है । इसी लिये वह प्रत्येक क्षण सत्य के मार्ग पर चलते हुये ही व्यतीत करना चाहता था चाहे इसके लिये उसे कितने ही कष्ट क्यों न सहन करने पड़े । यजुर्वेद के एक मन्त्र में ऋषि अपनी वाणी की सत्यता की अभिलाषा करता है-

"मनसः काममाकूति वाचः सत्यमशीय"[2]

अर्थात् मन के काम, संकल्प और वाणी के सत्य को हम प्राप्त करें । ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋत और सत्य को सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा के तप से उत्पन्न कहा गया है -

"ऋतं उत्पन्न च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत
ततो रात्र्यजायत् ततो समुद्रो अर्णवः"[3]

प्रज्वलित तपस्या से यज्ञ और सत्य उत्पन्न हुये अनन्तर दिन-रात्रि उत्पन्न हुए इसके अनन्तर जल से पूर्ण समुद्र की उत्पत्ति हुई । यजुर्वेद में ऋषि का संकल्प है कि मैं अनृत से सत्य को प्राप्त करता हूँ -

"इदमहमनृतात सत्यमुपैमि"[4]

1- शुक्लयजुर्वेद 7.45

2- शुक्लयजुर्वेद 39.4

3- ऋग्वेद 10.190.1

4- शुक्लयजुर्वेद 1.5

आराध्य सदा आदर्श रूप होता है । अतः वैदिक आर्य अपने देवता को भी सत्य आचरण वाला और सत्य धर्म से युक्त बताता है -

"अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः "[1]

अर्थात् हे अग्नि तुम होता अशेष बुद्धि सम्पन्न सत्य-परायण बहुत अधिक अद्भुत कीर्ति से युक्त हो । आदर्श रूप आराध्य में उन्होंने सत्यता का अवलोकन और प्रतिष्ठापन बार-बार इसलिये किया कि उनसे प्रेरणा प्राप्त मानवमात्र में सत्य का प्रचार प्रसार हो । तभी तो उनकी यह दृष्टि थी कि वरुण लोगों के सत्य और असत्यों को देखते हुये उनके मध्य घूमते हैं ।

"यासां राजा वरुणो याति मध्ये
सत्यानृते अवपश्यन्जनानाम "[2]

इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि देवता केवल स्वयं आदर्श ही स्थापित नहीं करते अपितु प्रजा द्वारा उसका पालन भी करवाते हैं । शुक्लयजुर्वेद में सत्य की प्राप्ति श्रद्धा द्वारा बताई गई है ।

श्रद्धया सत्यमाप्यते[3]

इसी प्रकार एक स्थल पर सत्य को प्राप्त कराने और असत्य को दूर करने की ईश्वर से प्रार्थना है ।

इसप्रकार सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि वैदिक आर्य सत्य को अत्यधिक महत्त्व देते थे । उन्होंने अपने देवताओं को सत्यारोपित किया अथवा उन्हें सत्ययुक्त होने को इसलिये कहा कि मानव-मात्र में सत्य गुण का

1-

2- अथर्ववेद 1.33.2

3- शुक्लयजुर्वेद 19.30

प्रचार प्रसार हो । सत्य को उसने नैतिक धरातल में सर्वश्रेष्ठ मान्य आचार-सिद्धान्त माना और धरती आकाश, अन्तरिक्ष, इहलोक, परलोक, पितृलोक देवलोक सभी स्थानों पर समान रूप से महत्वपूर्ण सिद्ध किया ।

अहिंसा - यजुर्वेद का मन्त्रांश है "सॉप मत बन और न ही व्याघ्रादिवत् हिंसक बन -

"मा अहिर्भूर मा पृदाकुः"[1]

स्पष्ट है यहाँ हिंसा से पृथक् अहिंसा का उपदेश है । ऋत और सत्य के अतिरिक्त अहिंसा की उदात्त भावना के दर्शन भी वैदिक संहिताओं में होते हैं । सत्य की भाँति उसने अपने देवताओं को हिंसा रहित अहिंसक आदि गुणों से विभूषित किया है । एक मन्त्र में पितरों को स्तोता एवं हिंसा और पाप आदि से रहित बताया गया है ।

"असुं न ईयुरवृको ऋतज्ञास्ते"[2]
नोऽवन्तु पितरो हवेषु "

वैदिक न तो स्वयं हिंसा में आस्था रखता था और न ही हिंसा करने वाले को आदर की दृष्टि से देखता था अपितु देवों से सदा हिंसक शत्रुओं को नष्ट करने को प्रार्थना किया करता था वह यह भी प्रार्थना करता था कि देव उसे हिंसा रूप पाप से दूर रखे । यजुर्वेद के एक मन्त्र में प्रार्थना है कि -

" पुरुराण्णो देव रिषस्पाहि"[3]

1- शुक्लयजुर्वेद 8.23. 6.12

2- ऋग्वेद 6.19.4

3- शुक्लयजुर्वेद 3.48

अर्थात् हे जगदीश्वर हमें पुरु अर्थात् बहुत दुःख देने वाले हिंसा रूप पाप एवं हिंसक शत्रु से दूर रख और इसलिये क्योंकि वह स्तोता है प्रार्थी है वह उन शत्रुओं को नष्ट करने की प्रार्थना करता है जो उससे द्वेष करता है और जिससे वह द्वेष करता है । अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के 19-23 तक पाँच सूक्तों में क्रमशः अग्नि वायु, सूर्य, चन्द्र और आपः देवता से उस शत्रु को नष्ट करने की प्रार्थना है जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं । इसी प्रकार यजुर्वेद में भी यज्ञ-कर्म करने से पूर्व हिंसक की हिंसा करने के लिये ईश्वर से प्रार्थना है -

"धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं[1]
योऽस्मान्धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः"

हे देव आप हिंसक है हिंसा करने वाले की हिंसा कीजिए । जो हमारी हिंसा करता है उसकी हिंसा कीजिए उसको भी नष्ट करिये जिसकी हिंसा के लिये हम प्रवृत्त हुए है । संहिताओं में सर्वत्र शत्रु की हिंसा की और आर्यों द्वारा स्वयं की अहिंसा की प्रार्थना की गई है । वैदिक मनुष्य जानता था कि राजा को अपनी प्रिय प्रजा का यथा संभव पालन करना चाहिये न कि हिंसा-

"मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः"[2]

वैदिक आर्य यह जानते थे कि सुबुद्धि से ही सारी सुख समृद्धि प्राप्त की जा सकती है और दुर्बुद्धि के द्वारा हिंसा और विनाश होता है । इसी से वह ईश्वर से बुद्धि की प्रार्थना करते समय सरल और सद्बुद्धि की प्रार्थना करना भूलते नहीं थे जिससे कि वह हिंसक न बन सके । ऋग्वेद के एक मन्त्र में प्रार्थना है कि

"प्राची मु देवाश्विना धियं
मेऽमृध्रां सातये कृतं वसूयम्"[3]

1- शुक्लयजुर्वेद 1.8
2- " "12.32
3- ऋग्वेद 7.67.5

अर्थात् हे अश्विनौ मुझे सरल अहिंसक एवं धनाभिलाषिणी बुद्धि प्राप्त कराओ । परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आर्य इतना अहिंसाप्रिय था कि हिंसा को कहीं भी कभी भी महत्त्व नहीं देता था । उसने अपने आदर्श रूप आराध्य को सदा साधुओं का सज्जनों का रक्षक {हिंसा न करने वाला} ही कहा । दुष्टों और शत्रुओं की हिंसा करने वाले हिंसक के रूप में तो उसने सदैव अपने देव को देखा और शत्रु नाश की प्रार्थना भी की । जहाँ उसने अपने देव को अहिंसक और हिंसा रहित कहा वहाँ हिंसक रिपु विनाशक हिंसको का हन्ता आदि भी उद्घोषित किया और शत्रु के नाश की कामना की।वैदिक आर्य यज्ञ-प्रिय थे।धर्म प्रिय थे।वह जानते थे कि कल्याणकारी कार्यों में अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं । इसलिये वह यज्ञ से उस देव को आह्वान करता है जो पवित्र बल वाला एवं हिंसक शत्रु का विनाश करने वाला है -

"मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम"[1]

मै पवित्र बल मित्र और हिंसक रिपुविनाशक वरुण को यज्ञ में बुलाता हूँ ।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में अहिंसा की नीति की दृढ़ स्थापना है । उस समय व्यक्ति की अहिंसा में आस्था थी और वह हिंसा और हिंसको से दूर, अहिंसा और अहिंसको से प्रीति करता था । व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा का भाव दृढ़ होने से वह परिवार समाज और राष्ट्र में भी अहिंसा का आदर्श स्थापित करसकता है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि अहिंसा का पात्र भी सच्चरित्र संयमी और दयालु हो । सज्जनों के हिंसक के प्रति तो हिंसा का निर्देश किया ही गया है ।

1- शु० 33.57

मैत्री - वैदिक संहिताओं के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उस युग के मानव में मैत्री की दृढ़ भावना विद्यमान थी वह जानता था कि मित्र के प्रति मित्र के क्या कर्तव्य होते हैं । अथर्ववेद का एक मन्त्रांश है कि सब दिशायें मेरी मित्र हों -

"सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु"[1]

अभिप्राय यही है कि सभी ओर से सभी मनुष्य मेरे प्रति सद्भावना रखें । मित्र मित्र का सदैव कल्याण करता है, संकट के समय सहायता करता है । वैदिक मानव उस मनुष्य को मित्र अथवा सखा नहीं मानते जो समय पर मित्र की सहायता नहीं करता-

न स सखा यो न ददाति सख्ये[2]

और इसीलिये वैदिक मानव देवताओं की मित्रता की कामना करता था जिससे समय पर उसकी विपत्ति दूर हो सके वह सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सके ।

"देवानां सख्यमुपसेदिमा"[3]

अर्थात् हम देवों के सख्यभाव को सदा ही प्राप्त करते रहे । मैत्री भावना के प्रति सम्मानपूर्ण दृष्टि का बोध वैदिक मानव की इस कामना से भी लगता है -

दृते दृहं मा मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे "[4]

1- अथर्व वेद 19. 15. 6

2- ऋग्वेद 10. 117. 4

3- शुक्लयजुर्वेद 25. 15

4- शुक्लयजुर्वेद 36. 18

हे जगदीश्वर सब प्राणी मित्र की दृष्टि से मुझे अच्छी प्रकार देखे मैं मित्र की दृष्टि से सब प्राणियों को ओर देखूँ । इस प्रकार हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखे । उस अवस्था में हमें दृढ़कर स्थिर करिये । उस प्राचीन वैदिक युग में प्राकृतिक शक्तियों में मनुष्य देवत्व की कल्पना किया करता था और अपने जीवन का एक बड़ा भाग देवताओं की अर्चना और यज्ञादि कर्म में व्यतीत किया करता था । अतः देवताओं से अपनी अभिलाषाएँ भी इस प्रकार व्यक्त करता था जैसे देव साक्षात् उसके समक्ष खड़े होकर उसकी बात सुन रहे हों। अपने प्रत्येक विचार, प्रत्येक दृष्टि-कोण को वह देवता पर आरोपित कर लेता था । निम्न मन्त्रों में देवों में मित्रता का गुण स्पष्ट आरोपित किया हुआ लक्षित होता है-

"अभीषुणः सखीनामविता जरितृणाम्"[1]

अर्थात् स्तुति करने वालों को भी इन्द्र सखा मानते हुये व्यवहार करते हैं । एक मन्त्र में ऋषि ने जल और ओषधियों को श्रेष्ठ मित्र के समान होने की प्रार्थना की है -

"सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु"[2]

देवता के पूज्य होने का कारण वह यह भी मानता है कि उसका देव उसके मित्रों का रक्षक है ।

इस प्रकार इन उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर वैदिक संहिताओं में मैत्री भाव के नैतिक आचार को स्पष्टतः समझ सकते हैं । वास्तव में मैत्री भाव एक आन्तरिक भाव है जो प्रत्येक सदाचारी मानव का गुण होता है । मित्रता का भाव हृदय में रहने से मनुष्य के ईर्ष्या द्वेष, द्रोह आदि अवगुणों का निवारण होता है और

1- ऋ0 27.41

2- ऋ0 6.22

मानव-मानव के प्रति सद्भावना स्थापित करके एक सभ्य संव्यवस्थित समाज और राष्ट्र का निर्माण ~~करने में सहायक~~ हो सकता है । मैत्री भाव मनुष्य को उदारता सिखाता है । अतः मैत्री भावना या सख्य भाव रूपी आचारिक गुण को मानव का एक महत्त्वपूर्ण/एक आवश्यक गुण माना गया है ।

<u>अभय</u> – मानव जीवन में "मा भैषीः" का बहुत महत्त्व है । जहाँ हमारे विचार संकीर्ण और हेय होते हैं । वही जीवन भयग्रस्त हो जाता है । अथर्ववेद का एक मन्त्र है -

"अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ।[1]

अर्थात् अन्तरिक्ष हमको अभयप्रद हो आकाशपृथिवी हमको अभय देने वाली रक्षा दें चारों दिशायें भी हमको सब ओर से अभय प्रदान करने वाली हों । यजुर्वेद का एक मन्त्र यही पुष्टि करता है ।

"यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ।[2]

जहाँ जहाँ हमारे लिये जैसी भी स्थिति उत्पन्न हो वहाँ हमें सभी प्रकार से अभय प्रदान कीजिए । प्रजा और पशुओं की ओर से भी अभयता प्रदान कीजिए । अभय मन की एक उत्कृष्ट स्थिति है जिसमें मनुष्य सत्कार्य में निर्बाध गति से प्रवृत्त हो सकता है । जो वस्तु प्रत्यक्ष है उसके प्रति तो सभी का ध्यान रहता है । परन्तु अदृष्ट अप्रत्यक्ष शत्रु या भय भी कभी-कभी अनजाने मे आकर निगृहीत कर लेता है ।

1- अथर्ववेद - 19. 15. 5

2- शु0 33. 22

वैदिक आर्य को इस अदृष्ट अथवा परोक्ष विपत्ति का भी ध्यान रहता था और वह अपने देव से उसके नाश की भी प्रार्थना किया करता था । इन्द्र की मित्रता वह इसलिये प्राप्त करना चाहता था कि उसे भय न मालुम पड़े-

"सख्ये न इन्द्र वाजिनो मा भेम शवस्पते"[1]

इन्द्र सबका स्वामी है । उससे मित्रता के पश्चात् किसी का भय नहीं रह जाता । जाने "कब अनजाने में कोई अपराध हो जाये और देवता कुपित हो जाए, यह भय वैदिक आर्य को सदैव रहा करता था । इसलिये वह समय-समय पर अपने इष्ट देव से देवभय को दूर करने की प्रार्थना कर लेता था ।

"आरे अस्मत्कृणुहि दैव्यं भयम्"[2]

इन्द्र हमारे यहाँ से देव भय दूर करो इस प्रकार वैदिक संहिताओं में अभय का विशेष रूप से प्रतिपादन हुआ है । वैदिक आर्य दृष्ट, अदृष्ट भय, दिशाओं के भय, शत्रुजनित भय, दुःस्वप्न जनित भय, देव-भय प्राकृतिक भय तथा दारिद्रय-भय आदि से रक्षा की प्रार्थना किया करता था और निर्भय स्थिति में रहता हुआ सत्कर्मों में प्रवृत्त होना चाहता था । अतः अभय वैदिक आर्य का एक अभीप्सित गुण था।

कल्याण -

"स्वस्ति" जीवन का आवश्यक और महत्वपूर्ण तत्व है । वस्तुतः सभी कल्याणकारी जीवन जीना चाहते हैं । अकल्याण जीवन में कौन चाहता है । अपना और दूसरों, सभी का सब प्रकार से कल्याण सोचना और चाहना तथा कल्याण करना ही वैदिक मानव को अभिप्रेत था । संहिताओं मे यत्र-तत्र सर्वत्र कल्याण-विषय

1- ऋग्वेद 1. 11. 2

2- ऋग्वेद 8. 61. 16

ऋचाएँ बिखरी पड़ी हैं वैदिक मानव की प्रतिज्ञा थी -

"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"[1]

यह मेरा मन कल्याणकारी विचारों वाला हो । दूसरे के प्रति उसकी प्रेरणा थी-

"भद्रं मनः कृणुष्व"[2]

अपने मन को भला बना । अन्यों के प्रति उसकी प्रार्थना थी ।

"स्वस्ति पन्थामनु चरेम"[3]

हम कल्याण के मार्ग का अनुसरण करें । वैदिक आर्य अपने जीवन के चारों ओर कल्याण ही कल्याण देखना चाहता था । कल्याण ही कल्याण सुनना चाहता था उसकी अभिलाषा थी -

"सुश्रुतौ कर्णौ भद्र श्रुतौकर्णौ
भद्रं श्लोकं श्रूयासम्" ।[4]

अर्थात् मेरे कान कल्याणकारी बातों को सुने । मैं मंगलमयी प्रशंसात्मक बातों को सुनूँ । अमंगल बचनों से वह सदा बचना चाहता था । इसीलिये उसकी प्रार्थना थी अमंगल वाणियाँ हम पर आक्रमण न करें । अन्य वस्तुओं के समान कल्याण के लिये भी वैदिक आर्य ने यथा समय अपने ईश्वर का ही आश्रय लिया और कल्याण की कामना की । वैसे तो यह सर्वविदित है कि ईश्वर सर्वसमर्थ है अनन्तगुण सम्पन्न है फिर भी वैदिक मानव इस कार्य में अत्यन्त दक्ष था कि जब ईश्वर से जिस वस्तु की कामना की जाए तो उससे सम्बन्धित गुण और विशेषणों से उसे सम्बोधित कर

1- शुक्लयजुर्वेद 34. 1

2- शुक्लयजुर्वेद 15. 39

3- ऋग्वेद 5. 51. 15

4- अथर्ववेद 16. 2. 4

लिया जाए । जैसे सत्य की कामना में उसने अपने आराध्य को सत्यवादी, सत्यप्रिय आदि विशेषण दिये । अहिंसा की प्रार्थना में अहिंसक, अभय के लिये निर्भय भयरहित आदि कहा उसी प्रकार कल्याण के लिये भी कल्याण विशिष्ट नामों से पुकारा और कल्याण की कामना की । शु0 के एक मन्त्र में कल्याण की कामना उसने अहिंसित पूषा से इसलिये की कि जब पूषा स्वयं हिंसा से युक्त नहीं है तो हिंसा रूपी अमंगल कार्य कैसे कर सकते हैं मन्त्रांश है -

"रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये"[1]

अहिंसित पूषा हमारे मंगल के लिये रक्षक हों । कल्याणकारी आश्रय सुखदायी होता है । अतः अग्निदेव से मांङ्गलिक आश्रय की कामना है । एक मन्त्र में उसने ईश्वर को मंगलकारी नाम वाला कहा है -

"शिवो नामासि"[2]

ईश्वर का नाम ही कल्याणकारी है उसके स्मरण मात्र से ही प्राणियों का कल्याण होता है । वह ईश्वर से प्रार्थना के मध्य अपने मंगल की कामना करता है । वैदिक विद्वानों का बहुत सम्मान करते थे । उन्हें विश्वास था कि "बुद्धिमान् लोगों के बचन में मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती थी । अतः वह ईश्वर से विद्वानों के लिये कल्याणकर मार्ग की कामना करता था ।

"प्र. मतिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवायाने भूयात्"[3]

हे ईश्वर आपके प्रयत्नों के द्वारा विद्वानों के इस गमनागमन मार्ग में सुख प्राप्त होवे । शुभ बोलने वाले शकुनि पक्षी से घर के दक्षिण दिशा में बोलने की प्रार्थना

1- शुक्लयजुर्वेद 25. 18

2- शुक्लयजुर्वेद 3. 63

3- शुक्लयजुर्वेद 5. 33

की गयी है -

"अव क्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमंगतो
भद्रवाची शकुन्ते मा नः स्तेन ईशत्"[1]

शकुन्त सुमंगलसूचक और प्रियवादी होकर घर की दक्षिण दिशा में बोलो ताकि चोर और दुष्ट व्यक्ति हमारे ऊपर प्रभुत्व न करे । यहाँ यह भी स्पष्ट है पक्षियों तक से, मानवेतर प्राणियों तक से भी मंगल बचन बोलने की प्रेरणा और आशा है । एक अन्य मन्त्र में अकल्याण को दूर करने तथा कल्याण करने की प्रार्थना है -

"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव
यद भद्रं तन्न आसुव ।[2]

हे सविता देव तुम हमें लोगों के समस्त अमंगल को दूर करो और भद्र को हम लोगों के अभिमुख प्रेरित करो ।

इस वैदिक आर्य के मन में अपने दूसरों तथा समस्त समाज के कल्याण की नैतिक भावना विद्यमान थी । वह देवों से अपने कल्याण की प्रार्थना करता था और अपने आराध्य से भी ऐसे मन बुद्धि वाणी की भी याचना करता था जिससे दूसरों का कल्याण कर सके ।

विवेकशीलता-

मानव सांसारिक प्राणियों में श्रेष्ठ हैं तो केवल इसलिये कि उसके पास मेधा है धी है विवेक बुद्धि है । अन्य प्राणी भी जीवन जीते हैं परन्तु उनको अच्छी प्रकार से जीने के लिये ईश्वर ने विशेष बुद्धि नही दी । मानवेतर प्राणी

1- ऋग्वेद - 2.42. 3

2- शुक्लयजुर्वेद - 30.3

आहार, निद्रा, भय और मैथुन में मनुष्य की समानता रखते हैं । यदि मानव भी इन कार्यों के अतिरिक्त अपनी विवेक-बुद्धि से धर्म आदि श्रेष्ठ कर्म न करे तो वह पशु से भिन्न कुछ नहीं होगा । ईश्वर ने मानव को अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ बनाने के लिये और कल्याणमय जीवन व्यतीत कर मृत्यु के पश्चात् परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिये मेधा प्रज्ञा धी का विशिष्ट गुण प्रदान किया है जिससे वह श्रेष्ठ जीवन जीकर अपने नैतिक गुणों के द्वारा, सदाचारमय कार्यों के द्वारा परम दुर्लभ मोक्ष को प्राप्त कर सके जो उसका इस धरा पर आने का वास्तविक उद्देश्य है । वैदिक आर्य ने दुर्मति दूर करने और सुमति देने की प्रार्थना की -

"अप सेधर दुर्मतिम्"[1]

बुद्धि यदि सद्बुद्धि है तो वह सदैव सत्कर्म की अभिलाषा करेगी सत्कर्म तो सुखदायी होता है । अपनी प्रजा को शुभकर्मों में प्रेरित करने के लिये वह बार-बार ईश्वर से प्रार्थना करता है ।

"तत् सवितुवरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात्"[2]

जो सविता देव अर्थात् सर्वोत्पादक परमेश्वर है वह हमारी प्रज्ञा एवं बुद्धियों को {शुभकर्मों} में प्रेरित करे । सुबुद्धि मनुष्य यजन करते है दुर्बुद्धि नरकमें निमज्जित होते हैं । और पतित होना तो वैदिक मानव का उद्देश्य ही नहीं था । वह तो सदा ऊपर से ऊपर उठने,उन्नति करने की इच्छा रखता था । इसलिये उसने दुर्बुद्धि को दूर करने की प्रार्थना की ।

अप दुर्मतिं जहि"[3]

1- ऋग्वेद 1.2.9

2- शुक्लयजुर्वेद 3.35

3- शुक्लयजुर्वेद 11.47

सरस्वती देवी को तो आज भी विद्या-बुद्धि की देवी माना जाता है । वैदिक युग में भी सरस्वती को विद्या बुद्धि की प्रेरक देवी माना । निघंटु में सरस्वती वाक् के नामों में पठित है । शुक्लयजुर्वेद के एक मन्त्र में सरस्वती के द्वारा यज्ञ ग्रहण करने का विश्वास व्यक्त किया गया है -

"चोदायित्री सूनृतानां चेतन्ती
सुमतिनाम् यज्ञं दधे सरस्वती"[1]

प्रिय सत्यों को प्रेरित करने वाली और सुमतियों को प्रेरित करने वाली सरस्वती हमारे यज्ञ को धारण करती है । ऐश्वर्य के लिये वैदिक आर्य विद्वानों की सुमति में रहना चाहता है । यजुर्वेद में एक स्थान पर उसने कामना की है

"उतोदिता मघवन्सूर्यस्य
वयं देवानां सुमतौ स्याम्"[2]

अर्थात् सूर्य के उदय समय में हम विद्वानों की सुमति में रहते हुये सकल ऐश्वर्य से युक्त होवें । तात्पर्य यह है कि वैदिक मानव की अभिलाषा थी कि वह अच्छी बुद्धि से ऐश्वर्यवान् बनना चाहता है अशोभन बुद्धि से "नहीं" । इसीलिये बार-बार उसने अपने आराध्य को कवि मेधावी कहा " मेधावी अग्नि स्तोत्र द्वारा प्रशंसनीय है

"कविरग्निरीडेन्यो गिरा:"[3]

बुद्धिहीनता और दुर्बुद्धि दोनों ही मनुष्य के स्वयं के लिये भी हानिकारक होती है और दूसरों के लिये भी अकल्याणकर होती है । इसलिये वैदिक मानव न तो बुद्धिहीन होकर पशु की भाँति जीवन जीना चाहता था और न ही दुष्टबुद्धि प्राप्त कर समाज को दुःखी करने वाला व्यक्तित्व ही चाहता था । शोभन बुद्धि सत्कर्म को

1- शु0 20.85
2- " 34.37
3- " 15.36

ओर ही प्रेरित होती है वह अशोभन कार्यों में प्रवृत्त नहीं होती इसका संकेत भी एक वैदिक मन्त्र में इस प्रकार है-

दैवी धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये"[1]

अर्थात् वह अपनी अभीष्टपूर्ति के लिये वह सुख देने वाली दैवी बुद्धि की याचना करता है ।

इस प्रकार वेदों में दुर्बुद्धि को दूर करने और सद्बुद्धि को प्राप्त करने की प्रार्थना है । यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रबुद्ध हो तो समाज और राष्ट्र स्वयमेव उन्नतिशील होगा । इसीलिये व्यक्तिमात्र की बुद्धि सद्भावना युक्त होनी आवश्यक है । बुद्धिमान व्यक्ति नैतिक आधारों से सम्पन्न होगा क्योंकि उसका मस्तिष्क सत्य, असत्य अहिंसा, हिंसा आदि सदाचार और अनाचार में भेद कर सकेगा । और सदाचार की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा देगा ।

यश -

वैदिक आर्य को यश बहुत प्रिय था । यशस्वी जीवन की कामना उसकी प्रमुख कामनाओं में थी । यश का ही दूसरा नाम लोकेषणा है । "यशोधन" अर्थात् यश को विद्वानों ने धन सदृश माना । वैदिक आर्यों की कामना थी । हम सबके यशस्वी बनें -

"वयं सर्वेषु यशसः स्याम्"[2]

वस्तुतः यशस्वी होने की कामना अत्यन्त कठिन है क्योंकि उसके लिये बहुत त्याग करना पड़ता है । भगवान् राम, कृष्ण बुद्ध, महर्षि दयानंद गाँधी आदि इसके जीवन्त उदाहरण है । स्पष्ट है कि सदाचारी और त्यागी मनुष्य को ही यश

1- ऋ0 4. 11

2- अथर्ववेद 6. 58. 2

प्राप्त होता है और इसके विपरीत दुराचारी व्यक्ति को अपयश । धन-प्राप्ति के साधन दो प्रकार के होते हैं । एक वे जो कुत्सित प्रज्ञा द्वारा उत्पन्न उपायों से धनागम के कारण बनते हैं । दूसरे वे जो शुद्ध, सदाचारी, उपायों से धनप्राप्ति कराते हैं । एक मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना की गयी है -

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्"[1]

अर्थात् हे अग्नि हमारे अन्दर के कुटिल पाप को दूर करो और हमें अच्छे मार्ग से धन के लिये ले जाओ । यशोऽभिलाषी वैदिक मानव जानता था कि केवल उसके कर्मों से ही उसे यश-अपयश का भागी बनना होगा, ऐसा नही है । अनेक बार सन्तान के कर्मों के द्वारा भी उसे यश-अपयश का भागी बनना पड़ता था । इसलिये भविष्य में कहीं पुत्र-कुपुत्र न हो जाए, इसकी भी चिन्ता करता था और आराध्य से यशस्वी पुत्र की कामना करता था अग्नि तुम यशस्वी और यज्ञकर्ता पुत्र दान करो।

"त्वं नो अग्ने सनये धनानां यशसं कारुं
कृणुहि स्तवानः"[2]

स्पष्ट है कि मनुष्य को धर्म के मार्ग पर चलना चाहिये तभी उसको यश मिल सकता है । और वह स्थिर हो सकता है । इसलिये आचारिक गुणों में यश का स्थान महत्वपूर्ण है क्यों कि यश पाने के लिये मनुष्य जीवन में श्रेष्ठ गुणों को अपनाकर सदाचार के पथ का अनुसरण करता है और दुर्गुणों को हेय दृष्टि से देखने लगता है।

1- शुक्लयजुर्वेद- 40.16

2- ऋग्वेद- 1.31.8

दान -

दानशीलता अच्छे मानव का गुण है । धरती पर याचक भी है, दाता भी है । बहुत से लोग कृपण होते है । परन्तु कृपणता सदाचारी मनुष्य का गुण नहीं है क्योंकि कृपण मनुष्य किसी को कुछ दे नहीं सकता । जबकि एक आचार-निष्ठ परोपकारी व्यक्ति अपने उदारता के गुण के कारण अपने थोड़े में से भी अपनी चिन्ता न करता हुआ याचक को दान दे देता है । इसलिये दानशीलता एक आचरिक गुण है क्योंकि इच्छुक व्यक्ति को दान देने से उसका कल्याण होता है । दान का महत्व अवान्तर साहित्य में भी पर्याप्त रूप से वर्णित है परन्तु इसकी नींव वैदिक संहिताओं में ही है । अन्य गुणों की भाँति दानशीलता का गुण भी वैदिक इष्ट में आरोपित किया गया है । वैदिक आर्य याचक है, याचना करता है, परन्तु सामर्थ्यशील देवों से ही । एक मन्त्र में वह याचना करता है "हम लोग धनाभिलाषी होकर स्तुति द्वारा द्योतमान सविता से यजनीय धन के दान की याचना करते है -

देवस्य सवितुर्वयं वाजयन्तः पुरंध्या
भगस्य रातिमीमहे"[1]

वह ईश्वर से धन की याचना अथवा धनवान् होने की प्रार्थना इसलिये करता है, जिससे वह दान कर सके । वह यह भी जानता है कि ईश्वर दानी को धन देता है पितरों से भी वह दानी व्यक्ति को ही धन देने को कहता है -

"रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय"[2]

1- ऋग्वेद- 3.61. 11

2- शुक्लयजुर्वेद- 19.63

हे पितरो तुम हविदाता यजमान के लिये धन दो यजुर्वेद में इसीलिये पदार्थों का त्याग भाव से उपभोग करने की प्रेरणा है ।

त्यक्तेन भुञ्जीथाः[1]

ताकि मनुष्य में लोभ होकर कृपणता का भाव न उत्पन्न हो जाए और लोग कृपण न कहें । दानशीलता की महान् प्रेरणा इस मन्त्र से भी मिलती है "सौ हाथों से संचय कर हजार हाथों से बाँट दे ।

"शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर"[2]

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को धन संचय में जितना उत्साह होना चाहिये उससे अधिक उत्साह उसे बाँट देने में होना चाहिये । वैदिक मानव उस मनुष्य को धन रखने का अधिकारी नहीं समझता जो धनी होकर भी याचक को धन दान नहीं करता तथा धन दान करने वाले इन्द्र से ईर्ष्या करता है एक मन्त्र में उल्लेख है -

यस्ते रेवा अदाशुरिः प्रममर्ष मघत्तये तस्य नो वेद आ भर[3]

अर्थात् इन्द्र जो मनुष्य धनी होकर भी याचक को दान नहीं करता और धनदाता से ईर्ष्या करता है तू उसका धन हमारे लिये ले आओ ।

इस प्रकार दानशीलता रूपी आचरिक गुण वैदिक संहिताओं में महत्त्वपूर्ण ढंग से वर्णित है जो व्यक्ति मात्र को दान का महत्त्व सिखाता है । विश्व बन्धुत्व का भी पाठ पढ़ाता है क्योंकि जब तक मानव-मानव के प्रति सहृदय नहीं होगा बन्धुत्व भाव नहीं रखेगा, तब तक वह दान की भावना का सुदृढ़ता से पालन नहीं कर पायेगी। फलतः एक अच्छा समाज और राष्ट्र निर्मित नहीं हो पायेगा ।

1- शुक्लयजुर्वेद- 40. 1

2- अथर्ववेद - 3. 24. 5

3- ऋग्वेद 8. 45. 15

पाप-साहित्य -

पाप और पुण्य दो प्रकार के कर्म मानवों द्वारा किये जाने वाले स्वीकार किये गये हैं । पाप कर्म दुष्कर्म हैं और पुण्य सत्कर्म है । अथर्ववेद के ग्यारहवे काण्ड में वर्णन आया है कि "जब इस संसार के रचयिता ने नेत्र कान आदि छिद्रों को बनाया तब त्वष्टा के द्वारा बहुत से छेद वाले पुरुष-देह को घर बनाकर प्राण, अपना और इन्द्रिय ने प्रवेश किया । स्वप्न निद्रा, आलस्य निर्ऋति, पाप इस पुरुष-देह में घुस गये और आयु हरण करने वाली जरा चक्षु, मन, खालित्य (चित्त, चक्षु, आदि का स्खलन) पालित्य (जरा) आदि मन के अभिमानी देवता भी उसमें प्रविष्ट हो गये[1] । तात्पर्य यह है कि मानव सृष्टि के साथ ही पाप और पुण्य दोनों कर्मों की सृष्टि हुई । वैदिक मानव का यह सतत् प्रयत्न रहता था कि पाप कर्म, दुष्कर्म से अपने को सर्वथा पृथक् रखें । देवों से भी वह पाप-को विमुख रखने की प्रार्थना करता था । अग्नि से प्रार्थना करता था-

"पुनर्नः पाह्यहंसः"[2]

यज्ञ में आकर हे अग्ने तुम हमें पुनः पुनः पाप से बचाओ ।

वैदिक आर्य को ज्ञात था कि पाप या अपराध कई प्रकार से हो सकता है इसलिये वह सब प्रकार के पापों से अपनी मुक्ति की प्रार्थना करता था । ~~इसलिये वह सब प्रकार के पापों से अपनी मुक्ति की प्रार्थना करता था~~ । यजुर्वेद के एक मन्त्र में पाप के प्रकारों की गणना और देवता द्वारा उसके परिहार करने का वर्णन है -

देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि

मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयाजनमसि[3]

पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्यात्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्येनस ।

1- अथर्ववेद - 11.8.18-19

2- शुक्लयजुर्वेद- 129

3- शुक्लयजुर्वेद 8.13

अर्थात् हे यूपखण्ड देवों में यज्ञादि न करके जो पाप किया है तुम उसके नाश करने वाले हो । मनुष्यों मे निन्दा आदि किये गए पाप के तुम नाशक हो । पितरों को पिण्डदानादि न देने के पाप के तुम नाशक हो । स्वयं अपनी निन्दा-श्लाघा के पाप के तुम नाशक हो । अन्य भी सब प्रकार के पाप के तुम नाशक हो । पाप की परिधि बहुत विस्तृत है । अनुचित आचरण को या सबकी कल्याण भावना से रहित आचरण को पाप कहा जा सकता है । एक अन्य मन्त्र में ऋषि की प्रार्थना है-

अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं
पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि[1]

विद्वानों और मरणधर्मा मनुष्यों के साथ व्यवहार करते हुये, जो कामी जनों से तथा साधारण मनुष्यों के लिये दुष्टाचरण रूप अपराध है उसे मैं प्राप्त न होऊँ । इसलिये नाना अपराधों को उत्पन्न करने वाले धर्म की हिंसा रूप पाप से मुझे दूर रखो । इसी प्रकार हिंसा भी पाप है । दिन और रात्रि में किए गये अपराध के लिए भी क्षमा याचना है -

यदि दिवा यदि नक्तमेनांसि चकृमा वयम्
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुन्चत्वऽहंसः ।[2]

यदि हम दिन या रात्रि में पाप करें तो हे वायु उन सभी पापों से आप हमें बचाइये । इसमें रात्रि में छिपकर किये कार्यों या दुर्व्यसनों को पाप कहा गया है । भूत और भविष्य के पापों से बचाकर कल्याण की कामना एक ऋग्वेदीय मन्त्र में है -

ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ।[3]

1- शुक्ल यजुर्वेद - 8.23

2- शुक्लयजुर्वेद 8.27

3- ऋग्वेद 10.63.8

देवों इस समय हमें अतीत और भविष्यत् के पापों से बचाकर कल्याण दो । वैदिक आर्य पाप के साथ ही पापी से दूर रहने, पापी को नष्ट करने, आदि की प्रार्थना भी अपने देव से करता है -

विपृचो स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्"[1]

जैसे तुम अधर्मात्मा पुरुष से संपर्क नहीं रखते । वैसे इस अधर्मात्मा से मुझे भी विमुक्त रखो अलग रखो । अग्नि से प्रार्थना की गयी है -

उरुष्या नो अधायतः समस्मात्[2]

हे अग्ने पापाचारी मनुष्य से सर्वदा हमारी रक्षा करो । निष्कर्ष यह है कि वैदिक संहिताओं में पाप और पापी दोनों को हेय दृष्टि से देखा जाता था और प्रत्येक आर्य सदाचारी मानव इन दोनों (पाप और पापी) से दूर रहने का प्रयत्न करता था । पाप और पापी से बचने के लिये वह देवों की प्रार्थना का भी आश्रय लेता था ताकि शारीरिक और मानसिक शक्ति प्राप्ति करके दुराचरण से दूर रह सके ।

पवित्रता -

"पवित्रता", "शुचिता" का मानव जीवन में बहुत महत्व है । आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की पवित्रता ही मनुष्य के लिये आवश्यक है । मनु ने अपने आचार लक्षण में "शौच" का नाम गिनाया है । बाह्य शुद्धता से मनुष्य में "पवित्रता" की भावना प्रबल होती है । और विचारों की पवित्रता तो आचार का "प्राण" है । वैदिक मानव इस "पवित्रता" के विषय का अच्छा ज्ञाता था इसीलिये उसकी यह प्रार्थना और घोषणा थी -

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु
देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण

1- शुक्लयजुर्वेद- 9.4

2- शुक्लयजुर्वेद- 3.26

सूर्यस्य रश्मिभिः । तस्य ते

पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम्[1]

चित्त का स्वामी प्रजापति मुझे पवित्र करे । वाणी का स्वामी बृहस्पति मुझे पवित्र करे । सविता देव मुझे अच्छिद्र पावन वायु तथा सूर्य की रश्मियों से पवित्र करे । हे पवित्र पते उस तुम्हारे पावनत्व से पवित्र किया हुआ मैं स्वयं को जिस भी मनोरथ के साथ पवित्र करता हूँ मैं उस कर्म को पूरा कर सकने में समर्थ होऊँ । एक अन्य मन्त्र में उसकी प्रार्थना है -

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः

पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा"[2]

अर्थात् देवजन मुझे पवित्र करे बुद्धियां मन के साथ मुझे पवित्र करे । सर्वभूत मुझे पवित्र करे और उत्पन्नमात्र को जानने वाले अग्ने तुम मुझे पवित्र करो । सच्चरित्र के लिये बुद्धि के साथ-साथ मन की पवित्रता आवश्यक है । यदि मन पवित्र न हुआ तो अच्छा ज्ञान होने पर भी वह रावण जैसे कार्य करेगा । इसी प्रकार यजुर्वेद के अन्य मन्त्र में ऋषि देवता से प्रार्थना करता है -

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत

अग्ने क्रत्वा क्रतूँ "[3]

अर्थात् हे अग्निदेव । दीप्यमान तुम मुझे शुद्ध पवित्र के द्वारा पवित्र करो । हे अग्ने तुम यज्ञों को लक्ष्य करके मुझे स्वकर्म से पवित्र बनाओ । सोम को पवमान कहा गया है सोम स्वयं पवित्र है तथा अन्यों को पवित्र करता है वस्तुतः जो स्वयं पवित्र है

1- शुक्लयजुर्वेद 4. 4

2- " 19. 38

3- शुक्लयजुर्वेद - 19. 40

वही अन्यों को भी पवित्र करने की सामर्थ्य रखता है इसलिये सोम को पवमान कहकर प्रार्थना की गई है-

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे
अथो अरिष्टतातये[1]

पवमान मुझे ज्ञान बल और जीवन के लिये पवित्र करें और अरिष्टों के रक्षार्थ शक्ति के लिये पवमान मुझे पवित्र करें । ज्ञान की पवित्रता बल की पवित्रता और जीवन की पवित्रता से यही अभिप्राय है पूर्णरूपेण शुचिता की भावना । ज्ञान की पवित्रता से मनुष्य सदाचारी होता है अपना तथा दूसरों का कल्याण सोचने की सामर्थ्य रखता है बल की पवित्रता से वह अपना बल दुर्बल मनुष्यों के हित में लगाता है तथा दुष्ट बलशालियों के बल को चूर्ण करने में समर्थ होता है और जीवन की पवित्रता से वह संसार के सामने आदर्श रूप होकर उपस्थित होता है । इसीलिये यजुर्वेद के मन्त्र में कुछ इसी प्रकार की शिक्षा भी है -

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि
चक्षुस्ते शुॅन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि
नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं त शुब्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्रास्ते शुन्धामि

अर्थात् हे पशो मैं तुम्हारी जिह्वा को पवित्र करती है । हे पशो मैं तुम्हारे प्राण को पवित्र करती हूँ । हे पशो मैं तुम्हारी आँखों को पवित्र करती हूँ । हे पशों मे तुम्हारी कानों को पवित्र करती हूँ । हे पशो मैं तुम्हारे नाभि को पवित्र करती हूँ । हे पशो मैं तुम्हारे शिश्न को शुद्ध करती हूँ "हे पशों मैं तुम्हारीगुदा को

1- अथर्ववेद - 6.19.2

शुद्ध करती हूँ । हे पशो मैं तुम्हारे पैरों को शुद्ध करती हूँ । इन्द्रियों की निर्मलता के द्वारा वेद का यही संदेश है कि मानव जीवन का प्रत्येक क्षण प्रत्येक क्रिया निर्मलता की परिधि में व्यतीत होने चाहिये । पवित्र होकर निर्मल जीवन से मनुष्य सौ वर्ष की पूर्णायु व्यतीत करे तो स्वयं अपने इहलोक और परलोक को तो सुधारता ही है, दूसरों के लिये भी कल्याणकारी सिद्ध होता है । यजुर्वेद के एक मन्त्र में वह पितरों, पूर्वजों से पवित्रता प्राप्ति की प्रार्थना करता है

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु
मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण
शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु
प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यशनवै[1]

अर्थात् सोम प्रिय पितृजन मुझे पवित्र करें । पितामह मुझे पवित्र करें । शत आयुष्य वाले पवित्र के द्वारा प्रपितामह मुझे पवित्र करें । पितामह- प्रपितामह मुझे शतायुष पवित्र से पवित्र करें । उनके द्वारा पवित्रीकृत मैं अपनी सम्पूर्ण आयु प्राप्त करूँ । इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में अपने पूर्वजों के कार्यों का अनुसरण करके हम भी अपने जीवन को पवित्र कर सकते हैं । जिस मानव का जीवन निर्मल एवं विचार पवित्र होंगे, उसका प्रत्येक दृष्टिकोण पावन होगा । उसे जीवन के प्रत्येक पहलू में पावनता का ही विस्तार दिखाई देगा । एक मंत्र में सविता से वह कामना करता है -

"उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण
सवेन च । मां पुनीहि विश्वतः"[2]

1- शुक्लयजुर्वेद - 19.37

2- शुक्लयजुर्वेद - 19.43

हे सविता देव तुम अपने पवित्र एवं अनुज्ञा दोनों के द्वारा मुझे सर्वतः पवित्र बनाओ ।
उस आर्य मानव का देव पवित्र करने वाला था और इसीलिये कल्याणकारी भी-

"पावको अस्मभ्य शिवो भव"

पवित्र करने वाले आप हमारे लिये मंगलकारी हों ।

सुख - वैदिक मानव की अपने देवों से अधिकतर प्रार्थनाएं सुख और शान्ति के लिए ही होती थी । प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उसका लक्ष्य केवल सुख शान्ति-पूर्वक जीवन व्यतीत करना ही था । संहिताओं में "शम्" शब्द सुख अथवा कल्याण के लिए प्रयोग मे आता था । यजुर्वेद के एक मन्त्र में सुख की प्रार्थना करते हुये ऋषि कहता है ।

प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन्पथि देवयाने भूयात्

जैसे इन विद्वानों के मार्ग में सुख हो वैसे आप सदा प्रयत्न करिए । मार्ग कैसा हो जिस पर चलकर मनुष्य सुख की प्राप्ति कर सकता है इसके लिये निम्न मन्त्र उद्धृत है-

सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः/

अर्थात् जिस सत्कृत्य अथवा पुण्य के मार्ग पर "पूर्वज लोग चलकर सुख को प्राप्त हुए है । उस धर्मयुक्त मार्ग पर तू भी चल । अभिप्राय यही है कि धर्म का मार्ग सुखदायी होता है । वैदिक मानव केवल अपने लिए ही नहीं अपितु सभी के लिए सुख की कामना करता है । एक मन्त्र में सुख की कामना की अभिव्यक्ति इस प्रकार से हुयी है -

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु ।

शं योरभिस्रवन्तु नः "

1- शुक्लयजुर्वेद - 17.4

2- " " - 5.33

3- " " -13.31

4- " " - 36.12

दिव्य गुण वाले जल हमारी अभीष्ट सिद्धि करें और पान करने के लिये सुखदायी हों वे हमारे कल्याण के लिये सब ओर से प्रवर्षणशील हों । प्राकृतिक शक्तियों से भी वैदिक मानव सुखकर होने की प्रार्थना करता था-

"शं नो वातः पवतां शं नस्तपत सूर्यः
शं नः कनिक्रदद्देव पर्जन्यो अभिवर्षतु[1]

वायु हमारे लिये सुखकारी बहे । सूर्य हमारे लिये सुखकारी होकर तपे अत्यन्त शब्द करने वाला दिव्य गुणों से युक्त ~~विद्युत~~ नामक देव हमारे लिये सुखकारी हो । बादल हमारे लिये सब ओर वर्षा करें । इसमें सब ओर से पूर्ण सुख की भावना निहित है।

शान्ति की कामना -

शान्ति जीवन को सुखमय बनाने में सहायक होती है । समाज में शान्ति हो कोई किसी को कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न न करे तो अनाचार फैलेगा ही नहीं । इसीलिये आचार-निष्ठ व्यक्ति शान्ति भंग करने वाले कार्यों को रोकने का प्रयास करता है । वस्तुतः शान्तिरहित सुख कभी स्थायी नहीं हो सकता। सुख की पराकाष्ठा शान्ति । सुख की परिणति शान्ति में होती है । वेदों मे शान्ति मन्त्र बड़ा सुप्रसिद्ध है जिसमें सब ओर शान्ति की कामना की गयी है ।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवीशान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ।[2]

द्यौ हमारे लिये शान्तिकर हो अन्तरिक्ष शान्तिकर हो । पृथ्वी शान्तिकर हो जल शान्तिकर हो औषधियाँ शान्तिकर हों वनस्पतियाँ शान्तिकर हो सभी देव शान्तिकर

1- शुक्लयजुर्वेद - 36. 10

2- शुक्लयजुर्वेद - 36. 17

हों ब्रह्म शान्तिकर हों सभी कुछ शान्तिकर हों सर्वत्र शान्ति ही शान्ति हों । वह शान्ति मुझे भी प्राप्त हो । वास्तव में शान्ति मन की एक दशा है । ~~शान्ति मन की एक दशा है~~ । शान्ति भीतर से आती है-बाहर से नहीं । यदि चित्त उद्विग्न है तो बाहर शान्ति होने पर भी वह शान्ति का अनुभव नहीं करता । शान्ति एक दृष्टिकोण है । इस प्रार्थना में यही लक्षित है कि हमारा वह दृष्टिकोण बने जिससे हमें सब कुछ शान्तिमय प्रतीत हो यह तो निश्चित है कि बाहर से भी शान्ति की हम प्रार्थना करते हैं परन्तु वाह्य जगत् पर हमारा उतना अधिकार नहीं जितना मन पर है ।

कर्मशीलता -

अकर्मण्यता सदाचारी मानव को शोभा नहीं देती हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना अथवा बिना परिश्रम के धन अथवा सुख की कामना गुण नहीं माना जा सकता है । अकर्मण्य व्यक्ति को वैदिक आर्य ने कभी उच्च कोटि में नहीं गिना। वैदिक आर्य की तो अभिलाषा थी कि -

कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः [1]

इस लोक में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे । दुष्कर्म और अन्यायाचरण को तो सदैव वैदिक मानव ने दूर हटाने का प्रयत्न किया । एक मन्त्र में आपः देवता से अपने दुष्कर्मों को धोने की प्रार्थना करता है -

इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत् ।
यच्चाभिदुद्रोहानृत यच्च शेपे अभीरूणम्
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु"[2]

1- शुक्लयजुर्वेद - 40. 2

2- शुक्लयजुर्वेद - 6. 17

मुझमें जो दुष्कर्म हैं मैंने जो कुछ अन्यायाचरण किया है । मैंने जो शाप दियाहै और मैं जो झूठ बोला हूँ हे जल वह सब धो डालो । यहाँ आपः केवल साधारण जल नहीं हो सकता । आपः यहाँ सर्वव्यापक शक्ति का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है । वेदों में स्थान-स्थान पर सौ वर्ष तक जीने की कामना की गयी है । परन्तु कहीं भी क्षीण शक्ति वाला होकर जीने की कामना नहीं है । वह अपनी इच्छा प्रकट करता है -

> न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः
>
> वाङ्.म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः
>
> अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहुबाह्वोर्बलम्
>
> ऊर्वोरोजो जङ्.घयोर्जवः पादयोः
>
> प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः[1]

मेरे मुख में वाणी नासिका मे प्राण नेत्रों में दर्शन शक्ति, दाँत-अक्षुण्ण और केश पवित्र रोग से रहित रहे । मेरी बाहुओं में बल रहे, जाँघों में ओज पिंडलियों में वेग और पाँवों में खड़े रहने की शक्ति रहे । आत्मा अहिंसित और अंग पाप शून्य हों । इस प्रार्थना में कर्मशील रहने की भावना विद्यमान है । इन्द्रियों की शक्ति की कामना उसने कर्मशील रहने के लिये ही की कर्मठ होकर सौ वर्ष तक जीने की वैदिक आर्य की प्रार्थना वस्तुतः प्रशंसनीय है ।

माधुर्य -

वैदिक आर्य अपने जीवन में माधुर्य की कामना करता था । वस्तुतः माधुर्य अन्तरात्मा का होता है । सद्गुणों से जीवन में वास्तविक मधुरता आती हैं जो इहलोक में तो उच्चासन प्रदान कराती है परलोक में भी मोक्ष की दिलाने में

1- अथर्ववेद - 19. 60. 1

सहायता देती है । "मुख" से मीठा बोलने वाला कभी किसी का अप्रिय नहीं हो सकता इसलिये वह चाहता है -

मधुमती वाच-मुदेयम्

मेरी वाणी माधुर्य रस से पूर्ण हो । अपने देव से भी वह मीठा-बोलने की अपेक्षा रखता था ।

शुभानैर्वोचैस्तन्नो हरिवो यत्ते अस्मे [1]

हे हरिवादन इन्द्र हमारे लिये जो वक्तव्य है वह मीठे वचनों से कहो" । जिस मानव की यह अभिलाषा होगी कि -

सुश्रुतौ कर्णौ भद्र श्रुतौ कर्णौ

भद्र श्लोकं श्रूयासम" [2]

मेरे कान कल्याणकारी बातों को सुनें । मैं मंगलमयी प्रशंसात्मक बातों को सुनूं तो वह दूसरों के अकल्याण की बात सोचेगा ही नहीं । और यही कारण था कि वैदिक मानव का प्रत्येक कदम सदाचार का था, नैतिकता का था उसकी प्रत्येक क्षण यही कामना रहती थी ।

परिमाग्ने दुश्चरितादाधस्वा मा सुचरितेभज

उदायुषा स्वायुषोदस्थानमृतों ।

हे अग्नि मुझे दुराचार से हटाकर सदाचार में प्रवृत्त कर । मैं श्रेष्ठ सदाचारी पुरुषों का अनुकरण करके उत्कृष्ट जीवन और सुदीर्घायु से युक्त होकर उत्तम मार्ग में स्थिर रहूँ । वैदिक मानव ने सत्य, अहिंसा, दान दया, पवित्रता विवेकशील, कर्मठता, पाप-राहित्य कल्याण आदि दिव्य गुणों की कामना की, और दिव्य गुण दुराचार के लिये नहीं होते । आज के युग में प्रत्येक मानव यदि व्यक्तिगत रूप से

1- अथर्ववेद - 16.2.2

2- शुक्लयजुर्वेद- 33.27

वैदिक आर्य के इन्हीं शाश्वत सद्गुणों का अनुकरण करने का प्रयास करे तो आज भी समाज भ्रष्टाचार और अनाचार फलस्वरूप दुःख दारिद्र्य दैन्य आदि दोषों से रहित सभ्य सदाचार प्रगति शील समाज का रूप धारण कर सकता है ।

संस्कार

संस्कृति की भूमि संस्कार पर आधारित है । संस्कार ही संस्कृति के जन्म और उत्कर्ष के कारण एवं साधन है । इस दृष्टि से संस्कृति की आधारभूमि और व्यक्ति तथा समाज के उन्नायक संस्कारों की सम्यक् जानकारी प्राप्त करनी परमावश्यक है । संस्कार का अर्थ है संस्कृत करना, ठीक करना, उपयुक्त बनाना या सम्यक् करना आदि । किसी साधारण या विकृत वस्तु को विशेष क्रियायों द्वारा उत्तम बना देना ही उसका संस्कार है । इस साधारण मनुष्य जीवन को विशेष प्रकार की धार्मिक प्रक्रियाओं द्वारा उत्तम बनाया जा सकताहै जिससे कि वह जीवन में परम उत्कर्ष को प्राप्त कर सके । ये विशिष्ट धार्मिक प्रक्रियाएँ ही संस्कार है ।

इस दृष्टि से यदि "संस्कार" शब्द के प्रयोग एवं व्यवहार की प्राचीनता पर विचार करने पर प्रतीत होता है कि उसका अपना विशिष्ट महत्व रहा है । यद्यपि ऋग्वेद में संस्कार" शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है तथापि उसमें संस्कृत, संस्कृतम् और संस्कृतत्रम् आदि पदों का प्रयोग हुआ है । शुक्लयजुर्वेद में भी "संस्कृतम्" पद का प्रयोग हुआ है ।

तन्नो संस्कृतम्[1]

1- शुक्लयजुर्वेद - 4.34

भाष्यकार महीधर के मत में यहाँ "संस्कृतम्" का अर्थ "सर्वोपकरणयुक्त" है । शतपथ ब्राह्मण में "संस्कुरु" और "संस्कृतम्" पद प्रयुक्त है । किन्तु इसका अर्थ का अभिप्रेत संस्कार नहीं है । संस्कार से तप द्वारा पापों या दोषों के परिमार्जन की योग्यता और नवीन गुणों को उत्पन्न करने की क्षमता प्राप्त होती है । गर्भाशय में प्रविष्ट होने पर जीव में जो प्राकृतिक तथा आगन्तुक दोष समाविष्ट होते हैं । उनके मोचन की क्षमता और उपनयन तथा वेदाध्ययन व आदि क्रियायों के द्वारा नवीन गुणों के उत्पन्न करने की योग्यता संस्कारों से अर्जित होती है । यह जीवमयी सृष्टि त्रिस्कन्धात्मक है-आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक । आत्मा ज्ञान-प्रधान, शरीर क्रिया प्रधान, और सत्व अर्थप्रधान है । समष्टि संयुक्त होने के कारण भूत देव और ब्रह्म तीनों संस्कार सापेक्ष्य है । "भूत संस्कार से शरीर शुद्धि, देव संस्कार से देव-शुद्धि और ब्रह्म-संस्कार से आत्मशुद्धि होती है । भूत संस्कार अप्रधान होने के कारण उसका शेष दोनों संस्कारों में अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिये श्रुतियों और स्मृतियों में संस्कार दो ही प्रकार के माने जाते हैं - 1- ब्राह्म संस्कार 2- दैव संस्कार| ब्राह्म संस्कारों को स्मार्त और देव संस्कारों को श्रौत नाम से कहा जाता है ।

षोडश स्मार्त संस्कार-

स्मार्त {ब्रह्मा} और श्रौत {दैव} संस्कारों के पुनः तीन-तीन भेद होते हैं । जिनके नाम हैं 1- गर्भाधान 2-अनुव्रत 3- धर्मबुद्धि । गर्भाधान संस्कारों के आठ अवान्तर भेद अनुव्रत संस्कारों के आठ अवान्तर भेद और धर्मबुद्धि संस्कारों के पाँच अवान्तर भेदों को मिलाकर कुल { 8+8+5 = 21} इक्कीस भेद हो जाते हैं। इनमें गर्भाधान और अनुव्रत संस्कारों को मिलाकर "षोडश संस्कारों के नाम से कहा जाता है । धर्मशुद्धि पाँच संस्कार स्मार्त संस्कारों के ही पूरक होने के कारण श्रौत संस्कारों के अधिक निकट है । इसलिये स्मार्त संस्कारों की षोडश संख्या ही विश्रुत

एवं मान्य है । षोडश संस्कारों में आठ गर्भाधान संस्कारों के नाम हैं -
1- गर्भाधान 2- पुंसवन 3- सीमोन्नयन 4- जातकर्म 5- नामकरण
6- निष्क्रमण 7- अन्नप्राशन 8- चूडाकर्म । इसी प्रकार अनुव्रत संस्कारों के आठ
भेदों के नाम हैं - 1- कर्ण भेद 2- उपनयन 3- व्रतादेश 4- वेदारम्भ
5- केशान्त 6- समावर्तन 7- विवाह- 8- अग्निपरिग्रह ये दोनों मिलाकर
सोलह संस्कार हुए ।

गर्भाधान -

गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिये पाणिग्रहण एक अनिवार्य विधान है । पाणिग्रहण काम-सुख या इन्द्रिय भोग के लिये न होकर सुसन्तति प्रजनन के लिये है । स्मृतियों का विधान है कि पितृऋण और पुंनाम नरक से मुक्ति पाने के लिये पुत्र का प्रजनन आवश्यक है । शुक्ल यजुर्वेद में इसके विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं है लेकिन संतान प्राप्ति की कामना है -

"आधत्त पितरो गर्भ-कुमारे पुष्करस्त्रजम्
यथेह पुरुषोऽसत "[1]

कमलों की मालाएँ पहने हुये अश्वनिकुमारों के सदृश पुत्र रूप गर्भ को हे पितरों तुम मेरी स्त्री मे धारित करो जिससे कि वह मेरे घर में पुरुष संख्या को पूरा करने वाला होवे ।

पुंसवन -

यह संस्कार गर्भाधान के तीन मास बाद किया जाता है । इस संस्कार द्वारा गर्भस्थ जीव में पुंभाव या पुरुष भाव का आधान किया जाता है ।

1- शुक्लयजुर्वेद -2.33

सीमोन्नयन -

स्त्रियों के केशपाश को दो समान भागों में विभाजित करने वाली सिन्दूर रेखा (माँग) को ही सीमन्त कहा जाता है । गर्भाधान के चौथे छठे या आठवें मास यह संस्कार किया जाता है । इस संस्कार का उद्देश्य यह है कि गर्भिणी का गर्भपात न होने पावे ।

उक्त तीनों संस्कार प्रसव से पूर्व किये जाते हैं ।

जातकर्म -

प्रसव के अनन्तर यह संस्कार किया जाता है । इसका उद्देश्य बालक की बुद्धि एवं आयु की वृद्धि करना होता है । शुक्लयजुर्वेद में भी आयुवृद्धि की कामना की गयी है -

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषं[1]

जमदग्नि ऋषि की तीन पन की आयु (बाल, युवा, वृद्ध) कश्यप ऋषि की तीन पन की आयु और जो देवों में तीन पन का आयुष्य विद्यमान है । हे रुद्र वह तीन पन का आयुष्य हमारे लिये होवे ।

नामकरण -

सामान्यतः किसी भी वस्तु का नाम उसके व्यक्तित्व का परिचायक होता है । उसके नाम-श्रवण मात्र से ही उसके गुण कार्य और स्वरूप का स्मरण हो आता है । इसलिये नामकरण संस्कार का बड़ा महत्व है । यजुर्वेद में वर्णन है कि पिता बच्चे के नासिका से निकलते हुये श्वास प्रश्वास को हाथ से स्पर्श करता है और कहता है -

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि
को नामासि ।[2]

1- शुक्लयजुर्वेद- 3.62 2- शुक्लयजुर्वेद- 7.28

हे वत्स तू कौन है ? कौन सा है ? किसका है? वैदिक नामों में प्रायः पुत्र के साथ पिता नाम जुड़ा रहता है जैसे आर्ष्टिषेण सुदास आदि ।

निष्क्रमण -

नवजात शिशु को प्रथम बार घर से बाहर निकालने के समय जो संस्कार किया जाता है उसे निष्क्रमण कहा जाता है । यह संस्कार जन्म के चौथे मास किया जाता है । शारीरिक दृष्टि से शिशु निरोग रहे और प्राकृतिक तथा भौतिक व्याधियोंसेबचा रहे । इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर यह संस्कार किया जाता है ।

अन्नप्राशन-

जब तक बालक गर्भ में रहता है तब तक माता द्वारा गृहीत अन्न से रस प्राप्त करता रहता है । किन्तु बड़े होने पर बालक की शरीर रक्षा के लिये अन्नप्राशन संस्कार द्वारा उसे अन्न {मधु और खीर} दिया जाता है । छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार होता है । जिसमें यह कामना की जाती है कि उनके बच्चे तेजस्वी हों । बच्चे को भात खिलाते समय यजुर्वेद के इस मंत्र का उच्चारण करते हुये अन्नपति से यह प्रार्थना की जाती है कि -

अन्नपतेऽन्नस्य नोदेहन्यनमीवस्य शुष्मिणः

प्रप्त दातारं तारिष ऊर्जं नो धेधि द्विपदे चतुष्पदे[1] ।

हे अन्न के पालक-दाता अग्निदेव रोगरहित और बलकारी अन्न का मेरे भाग्य का अंश मुझे प्रदान करो । जो अन्न को देने वाला है उसको विपत्तियों से पार लगाओ । हम मनुष्य, पशु आदि में तुम इस अन्नादि के खाने पीने से सर्वथा बल-वीर्य-बुद्धि का आधान करो ।

चूड़ाकर्म -

चूड़ाकर्म का दूसरा नाम "मुण्डन संस्कार भी है यह संस्कार जन्म के

1- शु० -

तीसरे या पाँचवे वर्ष किया जाता है । विधिनिर्देश के अनुसार शरीर से बाहर जो केश है । उनमें पवित्रीकरण न होने से वे त्याज्य हैं । इसलिये उनका वपन आवश्यक है । केश जब तक शरीर में रहते हैं कर्मों संस्कारों के द्वारा तब तक उनमें पवित्रता बनी रहती है किन्तु शरीर से पृथक् हो जाने पर वे सर्वथा अपवित्र हो जाते है । क्योंकि अपवित्र बालों को बार-बार वपन करने का विधान है । इसलिये सर्वप्रथम उनका वपन करते समय जिस विधि का आश्रय लिया जाता है उसे ही चूड़ाकर्म संस्कार कहा जाता है । इस संस्कार में मंत्रोच्चारण द्वारा सोम तथा अग्नि आदि देवताओं से प्रार्थना की जाती है कि बालक को वे कष्टदायी एवं हिंसक न हों । यजुर्वेद में वर्णन है -

> शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते
> अस्तु मा मा हिंसी: । निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाधाय
> प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय

{मुण्डन के समय छुरे को हाथ से लेकर} हे छुरे तुम शिव नाम वाले हो । व्रज तुम्हारा पिता है तुम्हें नमस्कार है । तुम हमें हिंसित मत करो {नापित} हे यजमान मैं तुम्हें आयुष्य पाचकत्व, प्रजोत्पादन, धन की पुष्टि के लिये, सुन्दर सन्तान प्राप्त करने के लिये तथा सुबल के लिये मुण्डित करता हूँ । चूड़ाकर्म में शिखा वपन का निषेध है ।

विवाह संस्कार-

गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने के लिये विवाह या पाणिग्रहण संस्कार का विधान किया गया है । समाज में स्त्री तथा पुरुष विवाह द्वारा परस्पर जीवन भर के लिये सम्बद्ध हो जाते थे । विवाह के सम्बन्ध में "सप्तपदी" क्रिया का मूल भी शतपथ में उपलब्ध है । विवाह सम्बन्ध में गोत्र की दूरी को आवश्यक मानकर उसे वैज्ञानिक सिद्ध कर दिया गया है । वैदिक युग में एक पुरुष अनेक स्त्रियों से

1- शु० 3. 63

विवाह कर सकता था । शुक्लयजुर्वेद में अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर राजा की चारों पत्नियाँ उपस्थित रहती थीं

अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा

नयति कश्चन"[1]

शतपथ में स्पष्टतः बहुपत्नीत्व को सहमति प्रदान की गई है -

"एकस्य पुंसो बह्व्यः जाया भवन्ति"[2]

ऋग्वेद परम्परा के विरुद्ध शुक्लयजुर्वेद काल में स्त्री का कुमारी रहना असंभव था। एक स्थल पर कुमारियाँ वेदी की परिक्रमा करके कामना करती हैं -

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्

उर्वारुकमिव बन्धनादितोमुक्षीय मामुतः[3]

सुगन्ध युक्त तथा अन्नादि की पुष्टि को बढ़ाने वाले त्रिनेत्र शिव को हम भजन करते हैं । हे त्र्यम्बक पके हुये खरबूजे के समान हम मृत्यु के बन्धन से छूट जायें परन्तु अमृत से नहीं । हम कन्याएँ सुगन्धवान् और पति को प्राप्त कराने वाले त्रिनेत्र शिव को हम पूजती हैं । समाज में विवाह के बन्धन की दृढ़ मान्यता थी । F

शर्याति पुत्री सुकन्यां कहती है कि -

यस्मै मां पिता दान्नैवाहं त जीवन्तं हास्यामीति"[4]

मेरे पिता ने मुझे जिसे दे दिया है । उसे जीवन पर्यन्त नहीं छोड़ूँगी ।

इस प्रकार शुक्लयजुर्वेद में कहीं भी विवाह विधि का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता ह । परन्तु पति पत्नी सम्बन्धों का सांकेतिक वर्णन यत्र-तत्र मिल जाता है ।

1- शु० - 23. 18
2- शतपथ 7-4 । 6
3- शु० - 3. 60
4- शतपथ 4 1.59

संस्कारों के सम्बन्ध में मनु ने कहा है कि विवाहसंस्कार ही स्त्रियों का उपनयन संस्कार है । पतिसेवा ही उनका गुरुकुल वास है । घर का कामकाज ही उनके लिये हवन-कर्म है ।

इस प्रकार संस्कारों का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति से है । उनसे आत्मा और शरीर दोनों की शुद्धि होती है और अन्तःकरण में सद् विचारों एवं शुद्ध संकल्पों का उदय होता है । वे अतीत अनागत और वर्तमान तीनों जीवनों के उपकारक हैं ।

दार्शनिक विचारधारा

जिज्ञासा एवं संदेह की भावना में ही दर्शनशास्त्र का बीज निहित है । वैदिक चिन्तन की सबसे बड़ी विशेषता है भौतिक एवं अध्यात्म का समन्वय । यह जगत स्वयं में ही भौतिक एवं अध्यात्म के समन्वय का ज्वलन्त उदाहरण है । वैदिक द्रष्टाओं ने भौतिक जगत् की संरचना विशेषता तथा उनके समस्त भौतिक उपलब्धियों का चित्रण करने के अतिरिक्त भौतिक जगत् से ऊपर उठकर सृष्टि के परमतत्व अथवा जगत् के आधारभूत अध्यात्म तत्व की जिज्ञासायें वेद मन्त्रों में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त की हैं । यद्यपि वेदों में देवस्तुति याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रमुखता है फिर भी वैदिक वाड्.गमय में दर्शन और उनके सिद्धान्तों का विवेचन मिलता है -

ब्रह्म या परमतत्व -

उपनिषदों एवं दर्शन की तुलना में वेदों में ब्रह्म के तात्विक पक्ष पर उतना गम्भीर तथा सूक्ष्म विचार देखने को नहीं मिलता है । फिर भी वैदिक ऋषियों ने ब्रह्म के विषय में अपनी जिज्ञासाओं को प्रस्तुत करके यों ही नहीं छोड़ दिया अपितु अपनी अनवरत साधना से इनके समाधान की खोज भी की है और सृष्टि के मूल में एक ही आधारभूत परमात्मा परमब्रह्म प्रजापति अथवा हिरण्यगर्भ को परमतत्व के रूप में स्वीकार किया है ।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायस्तदु चन्द्रमाः
तदेव शुक्रं तदब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।[1]

1- शुक्लयजुर्वेद 32. 1

वह परमात्म पुरुष ही अग्नि है । वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है । वही वीर्य है, वही शब्द ब्रह्म है, वही आपः है, वही प्रजापति है ।

एको दाधार भुवनानि विश्वा ।[1]

वह परब्रह्म अकेला ही समस्त विश्व को धारण किये हुये है । वेद की यह विशेषता है कि जहाँ कतिपय मन्त्रों में एक ही साथ विश्व सत्ता के विषय में प्रश्न किये गये हैं वहीं पर उनके उत्तर भी निहित हैं उदाहरणार्थ -

कस्मै देवाय हविषा विधेम ।[2]

इस मन्त्रांश में यदि कस्मै को सर्वनाम माने तो यहाँ प्रश्न किया गया है परन्तु यदि "कस्मै" में आचार्य यास्क के अनुसार सुख का वाचक माने तो इसी में इसका उत्तर भी दे दिया गया है अर्थात् हम उस सुख स्वरूप परमात्मा की पूजा करे । परमात्मा की विश्वरूपता के अतिरिक्त वेद मन्त्रों में कहीं उसे अकाम धीर अमृत स्वयंभू रस से तृप्त तथा अपने में परिपूर्ण तथा कहीं पर कवि मनीषी परिभू स्वयंभू एवं कहीं पर सबका एकमात्र राजा वा शासक आदि गुणों से मण्डित किया गया है - "कवि र्मनीषी परिभूः स्वयंभू"[3]

"महित्वैक इन्द्राजा जगतो वभूव"[4]

परमतत्व की विलक्षणता का चित्रण अलंकारिक ढंग से किया गया है -

"तदेजाति तन्नैजति तदरे तद्वान्तिके
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य ब्राह्मतः"[5]

1- ऋग्वेद 10. 121. 8

2- शुक्लयजुर्वेद 32-6

3- शुक्लयजुर्वेद 40. 8

4- शुक्लयजुर्वेद 23. 3

5- शुक्लयजुर्वेद 40. 5

वह परमात्मा गमन करता है और स्थावर रूप वह कभी गतिशील नहीं है । अज्ञानी के लिये वह दूर है परन्तु ज्ञानी के लिये वह सबके अन्दर स्थित है वह इस सारे प्रपंच के बाहर भी हैं अर्थात् कहीं भी उसको इयत्ता नहीं है । अन्ततोगत्वा वैदिक उपासक ने साफ-साफ कह दिया कि उसके परे अथवा उससे बढ़कर कुछ भी नहीं है और पुरुष सूक्त में तो उस अद्वितीय तत्व को पुरुष नाम से सम्बोधित करते हुये वेदान्त के ब्रह्म से उसका तदात्म्य स्थापित कर दिया गया है ।

पुरुष एवेदं सर्व यद्भूतं यच्च भाव्यं

यह जो वर्तमान में है जो होने वाला है जो हो चुका है सब पुरुष ही है । यहाँ उपनिषद् में वर्णित "सर्व खाल्विदं ब्रह्म की अवधारणा जन्म लेती हुयी प्रतीत होती है । इस भाँति वैदिक परमतत्व की सर्वोच्चता एवं अद्वितीयता स्वतः सिद्ध है ।

आत्मा -

वेदों में आत्मतत्व का सूक्ष्म निरूपण किया गया है । वेदों के अनुसार अग्नि द्वारा मृतक को द्युलोक में ले जाने की प्रक्रिया शरीरस्थ व्यक्तित्व की होती है । मृत व्यक्ति का शरीर विनष्ट हो जाता है किन्तु उसका व्यक्तित्व तब भी बना रहता है उसका यह व्यक्तित्व ही आत्मा है जो शरीरान्त के बाद भी बना रहता है । तात्विक दृष्टि से "पुरुष" की अपेक्षा आत्मा की कल्पना और भी सूक्ष्म एवं गम्भीर है जैसा को पुरुष के स्वरूप से स्पष्ट है । तदनुसार सिद्ध होता है कि पुरुष में जन्म, मरण, जरा, आदि अवस्थाएँ विद्यमान हैं । जिसमें ये अवस्थायें विद्यमान हैं वह स्थूल है और विश्व शक्ति के व्यापक अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं है । वह शक्ति रूप नहीं उसका अंग या अंश है । आत्मा उससे भिन्न है । उसमें जन्म, जरा, और मरण अवस्थाएँ नहीं होती हैं। वह जन्म से पहले हैं और मृत्यु के उपरान्त भी बना रहता है । ऋग्वेद के ब्रह्म सूक्त में कहा गया है -

"आत्मा अकामधीर, अमृत, स्वयंभू और रस से तृप्त है"[1]
उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है । उपनिषदों में आत्मा की तात्विक विवेचना हुयी है वहाँ कहा गया है" उससे सब कर्मों का उत्थान होता है वही सबको प्रेरित करने वाली शक्ति है । ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय मन, प्राण तथा सारा शरीर उसी प्राज्ञ आत्मा के आविष्कार है । जागृति स्वप्न तथा संसुप्ति तीनों अवस्थाओं का वही धारण करती है । वह अज, अमर तथा विश्वातीत है । इस प्रकार वेदों में आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है ।

माया -

यजुर्वेद में माया शब्द का प्रयोग प्राप्त है लेकिन माया शब्द का जो अर्थ वेदान्त दर्शन में स्वीकार है वह वेद में नहीं अभीप्सित है । शुक्लयजुर्वेद में माया शब्द का प्रयोग मिलता है -

"दृहस्व देवि पृथिवी स्वस्तय आसुरी माया स्वधया कृतासि"[2]
हे पृथिवी निर्मित एवं द्योतनादि गुणयुक्ते उरवे हमारे कल्याण के लिये तुम दृढ़ा होओ तुम स्वधा की कामना से प्राणधारिका माया बनाई गई हो । भाष्यकार उव्वट ने इसका अर्थ "प्राणसम्बन्धिनी माया प्रज्ञा" किया है ।

पुनर्जन्म सिद्धान्त -

वेदों में ऋषियों ने सर्वत्र ही सुखी तथा दीर्घायु जीवन की कामना की है । कुछ मन्त्रों में ऐसा भी उल्लेख हुआ है कि मरणोपरान्त शरीर का अग्निदाह किया जाता है । अग्नि उस शरीर को पितरों तथा देवों तक ले जाता है।

1- ऋग्वेद- 10. 9. 44

2- शुक्लयजुर्वेद - 11. 69

यजुर्वेद में कहा गया है कि अग्नि के द्वारा मनुष्य सूर्य के उच्चतम स्थान तक द्युलोक में पुण्यात्माओं के लोक में जाते हैं । एक दूसरे मन्त्र में पुनर्जन्म सिद्धान्त को स्वीकार करते हुये कहा है -

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन
तमसावृताः तांस्तेप्रेत्यापि गच्छन्ति
ये के चात्महनो जनाः"[1]

घोर तमसान्धकार से ढके हुए वे लोक "असुर्य" नाम वाले हैं उस लोक में मरने पर वे ही लोग जाते हैं जो अपने कर्म का हनन करने वाले हैं अर्थात् अनुचित कर्म करते समय जो अपने अन्तरात्मा की आवाज को सुनकर भी उसकी अवहेलना करते हैं । और उस अनुचित कर्म को करते हैं । विचार रूप में पुनर्जन्म का उल्लेख शतपथ में भी मिलता है ।

"ये वैतत् कर्म कुर्वंति -मृत्वा पुनः संभवन्ति"[2]

मनुष्य मरकर पुनः जन्म लेता है । मनुष्य के तीन जन्म होते हैं "प्रथम माता पिता से द्वितीय यज्ञ से तृतीय अग्नि दग्ध हो जाने पर पुनः संभवरूप जन्म । इस पुनः संभूति की उपमा अत्यंत सुंदर ढंग से दी गई है -

"अधोऽधोऽक्ष सर्पन्ति स यथाहिस्त्वचो
निर्मच्येतैव सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यन्ते"[3]

जैसे सर्प अपनी केंचुली त्यागकर चल देता है तथैव आत्मा भी देह त्याग कर चल देती है । वह निर्मुक्त आत्मा विजातीय देह में भी प्रवेश ग्रहण कर सकती है । शतपथ का यही सिद्धान्त गीता मे भी वर्णित है ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 40. 3

2- शतपथ - 10. 4. 3. 10

3- शतपथ - 11. 2. 1. 1

मोक्ष -

ऋग्वेद यजुर्वेद में कामना की गई है कि हे ईश्वर आपकी कृपा से हम शरीर के प्राण बन्धन छोड़ दें

" उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् "[1]

हे त्र्यम्बक पके हुये खरबूजे के समान हम मृत्यु बन्धन से छूट जायें परन्तु अमृत से नहीं । उपनिषद में मोक्ष के बारे में पर्याप्त विवेचन मिलता है किन्तु यजुर्वेद में हम मोक्ष के विषय में सूक्ष्म पर्यालोचन और उससे सम्बन्धित तत्व प्राप्त कर सकते हैं ।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्परीत्य

सर्वा प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय[2]

प्रथमजामृतस्यात्मनात्मा नमभि संविवेश न चात्र: सर्वमेधो ग्रह: कत्व्यो दर्शनस्य प्रधान्यात् । एवं हि पश्यतो यजमानस्याग्निहोत्रादयो यज्ञो: सर्वे सर्वमेधा एवं आलम्बनमात्रं हि तत्र यज्ञा: परीत्य भूतानि अनेन दर्शनेन परिज्ञाय सर्वाणि भूतानि एवमेतदित्यवधोर्य । एव परिज्ञाय च सर्वान लोकान परिज्ञाय च सर्वा: दिश: । परिज्ञाय च सर्वा प्रदिश: उपस्थाय च प्रथमजां वाचं त्रयीलक्षणाम् अपि हि तस्मात्पुरुषाद् ब्रह्मैव पूर्वम सृज्यते विश्रुते: प्रथमजा वाक् । ऋतस्य यज्ञस्य अत्मना आत्मानम् परेण ब्रह्मणा विशिष्टं ब्रह्म अभिसंविशति अपुनरावृत्तये । शास्त्रों में तीन मुक्ति वर्णित है जिसका संकेत यजुर्वेद में भी प्राप्त होता है -

क्रम मुक्ति -

यजुर्वेद में देवयान पितृयान नाम के मुक्ति मार्ग का उल्लेख है-

द्वे सृती अश्रृणव पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च"।[3]

1- शुक्ल0 - 3. 60

2- शुक्ला - 32. 11 उव्वट भाष्य ।

3- शुक्ल0 - 19. 11.

अर्थात् इस संसार में मरने वाले मनुष्यों को मैंने दो ही गतियाँ पितरों की तथा देवों की सुनी है, उन्हीं दो गतियों से यह सारा संसार आता और जाता है। उन्हीं के अंदर चलकर यह संसार पितृलोक बैकुण्ठ को तथा मातृलोक भूमि को प्राप्त होता है। एक अन्य मन्त्र में देवयान तथा पितृयान मार्ग का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

"आहं पितृन्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः"[1]

अहं पितृन सुविदत्रान। सुविदन्नः कल्याणदानः कल्याणदानानं। नपातं च विक्रमणं च विष्णोः व्याप्तुर्यज्ञस्य। न विद्यते यत्रोपगतानां पातः स नपातः देवयानः पन्थाः विविधं क्रमणं यत्र गतानां स विक्रमणः पितृयाण पन्थाः तत्र हि अरघट्ट-घटीवत् उत्तराधरं प्राणिनो गच्छन्ति" देवयान पितृयाणौ पन्थानौ यज्ञ सम्बन्धिनावहं वेद्मि। इस प्रकार इन दोनों मार्गो का सम्बन्ध यज्ञ के साथ संयोजित कर दिया है।

जीवन्मुक्ति -

ब्रह्म में लीन ज्ञानी शरीर को धारण करते हैं लेकिन शारीरिक वासना से मुक्ति प्राप्त करते हैं। ज्ञानीजन द्वन्द्व आदि भाव से मुक्त रहकर आत्मतत्व में स्थित होते हैं ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति काल में जीव ब्रह्म स्वरूप होता है वह इस लोक में मुक्ति में सुख अनुभव करता है।

विदेह मुक्ति -

ज्ञान अग्नि कर्म क्षय अनन्तर जीवात्मा मोक्ष सिद्धि प्राप्त करता है। ज्ञान चक्षु से आत्म तत्व के दर्शन साक्षात्कार करके जीवात्मा मुक्त होता है। इसके उपरान्त आत्मज्ञानीजने शरीर त्यागकर परमधाम को प्राप्त होते हैं। इसीको

1- गीता अध्याय- 6

विदेह मुक्ति कहते हैं ।.

मोक्ष के साधन -

ज्ञान - "बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजित:
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैवशत्रुवत्"[1]

जिसने अपने आपको जीत लिया वह स्वयं अपना बन्धु है परन्तु जो अपने आपको नहीं पहचानता वह स्वयं अपने साथ वैर करता है यह आत्म स्वतंत्रता का वर्णन है और इस तत्व का प्रतिपादन है कि प्रत्येक को अपना उद्धार आप ही कर लेना चाहिये । आत्म स्वतन्त्रता ही वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता है जिसको आर्य अत्यधिक महत्वं देते थे । इस स्वतंत्रता के लिये शुद्ध ज्ञान की आवश्यकता है और उस शुद्ध ज्ञान को केवल मौखिक ही नहीं होना चाहिये वरन् जीवन के प्रत्येक स्पन्दन में प्रतिबिम्बित होना चाहिये । यजुर्वेद के मतानुसार -

अन्धतम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
ततो भूय: इव ते तमो य उ विद्यायाऽरत:[2]

अर्थात् जो पुरुष केवल अविद्या {अज्ञान}की उपासना करते हैं वे सांसारिक अज्ञान में प्रवेश करते हैं और जो ज्ञान में रत्त हैं वे भी अत्यधिक अन्धकार में पड़ जाते हैं । पुन: ऋषि का कहना है -

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय सह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतश्नुते[3]

अर्थात् जो पुरुष विद्या {आत्मज्ञान} और अविद्यां {कर्मानुष्ठान} दोनों को एक

1- गीता अध्याय - 6

2- शुक्ल0 40. 12

3- शुक्ल0 40.

साथ जानता है । वह अविद्या से मृत्यु को दूर कर विद्या से अमृत {मोक्ष} को प्राप्त करता है । उपनिषदों मे कहा गया है कि अविद्या विद्या की अभावात्मक दशा नहीं है वह माया है जो ज्ञानी जन प्रकाश स्वरूप उस परम पुरुषको जानते हैं वह मृत्यु को तारता है । ब्रह्म को जानने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग मोक्ष के लिये नहीं हैं ।

कर्म -

किसी भी जाति के उत्थान में उसके असामान्य गुणों के अतिरिक्त उसकी कर्मशीलता का प्रमुख भाग रहता है । वह सारा विश्व ब्रह्माण्ड कर्म का एक विराट् प्रतिबिम्ब मात्र है । मीमांसकों के मत से कर्म "ईश्वर है ।

"कर्मणैव हि संसिद्धि"

"कर्मण सुकृतस्याहु" कर्मण्येवधिकारस्ते"

आदि वचन गीता मे मिलते हैं । और अंत में "गहना कर्मणोगतिः" अर्थात् कर्म की गति गहन है कहकर भगवान् कृष्ण ने कर्म को अपने ही जैसा गहन बना दिया है। वैदिक आर्य ने अकर्मण्य व्यक्ति को कभी भी उच्च कोटि में नहीं गिना वैदिक आर्य को तो अभिलाषा थी ।

कुर्वन्नेवह कर्मणि जिजीविषेच्छत समाः

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरेः[1]

कर्म करते हुये ही मनुष्य सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करें इस प्रकार हे जीव तेरी मुक्ति हो सकती है इससे भिन्न मार्ग के द्वारा तेरी मुक्ति नही है । इस प्रकार कर्मरत जीवन बिताने पर भी मनुष्य कर्मसंसक्त नहीं हो जाता है उसे कर्मफल भोगना नही पड़ता है । इस प्रकार निष्काम कर्म संपादन करके मृत्यु को पार करके अमृतत्व

1- शुक्ल० - 40.2

को प्राप्त करता है । अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है "मेरे दाहिने हाथ में कर्म है बाँये हाथ में जय "इससे स्पष्ट ध्वनित है कि कर्म का फल अवश्यम्भावी है। वेद में दुष्कर्म और सुकर्म दोनों के ही परिणामो का पृथक-पृथक निर्देश है । अच्छे कर्म का अच्छा फल बुरे कर्म का बुरा फल । इससे संकेत मिलता है कि मानव को निष्क्रिय नहीं रहना चाहिये सतत् कर्म में ही रत रहना चाहिये ।

भक्ति -

सेवार्थक भज् धातु से निष्पन्न शब्द भक्ति भक्त, भजन्ते प्रभृति शब्द वेद में प्राप्त होते हैं । शुक्लयजुर्वेद में उपासते पद का प्रयोग इस अर्थ में किया है-

"य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः"[1]

जो आत्मा व बल को देने वाला है । विश्व जिसके अनुशासन को मानता है । देवता भी जिसके अनुज्ञा में वर्तमान रहते हैं । इस प्रकार वैदिक आर्य उपासनाप्रिय थे उनकी उपासना का विषय बहुत गम्भीर था वे सत्य प्रकाश और अमृतत्व की कामना करते थे । सत्य का एक वह रूप है जो हमारे शुभ कर्मों के माध्यम से प्रकट होता है और दूसरा रूप है हमारे भीतर प्रकट होने वाला वह तेज जो सारे अन्धकार को समाप्त कर देता है । जब सत्य अपने को परम ज्ञान के माध्यम से हमारे भीतर प्रकट करता है तो हम एकाएक कह उठते हैं -

इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि "[2]

अब मैं वही हूँ जो पूर्व में था । असत्य से सत्य की ओर जाने से व्यक्ति ज्ञान ज्योति प्राप्त कर लेता है और तम का नाश हो जाता है और जब उस व्यक्ति

1- शुक्ल0 25. 11

2- शुक्ल0 2. 28

के अंदर सत्यपूत ज्ञान की ज्योति चमक उठती है तो मृत्यु कहाँ आवागमन का चक्र कहाँ साक्षात् अमृतत्व सामने उपस्थित है । यही है आर्यों की उपासना ।

योग -

मोक्ष प्राप्ति में योग का अतीव महत्व है । यजुर्वेद में प्रतिपादित किया गया है ।

ईशानास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुन्जीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम ।[1]

यह सब ईश्वर के द्वारा अभिव्याप्त है । जो कुछ भी इस जगत् में चराचर प्रपंच विद्यमान हैं । उस ईश्वर के द्वारा दिये गये पदार्थों का निष्काम भाव से सेवन करो किसी के धन का लालच मत करो । योग के प्रभाव से मन एकाग्र होता है । मन तत्व की प्रेरणा से सब संभव होता है । शिवसंकल्पसूक्त में यह भाव प्रकट होता है - "सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"[2]

अर्थात् कुशल सारथि के अश्वों को अभीष्ट स्थल पर ले चलने के समान व लगामों के द्वारा अश्वों को नियन्त्रित रखने के समान जो मनुष्यों को यत्र-तत्र ले जाता है हृदय में प्रतिष्ठित जो अजर और अत्यंत वेगवान् हैं वह मेरा मन है । हे भगवान सदा शुभ संकल्पों वा होवें । इस प्रकार योग के द्वारा मन को नियन्त्रित करने से जन परमानन्द प्राप्त कर सकता है ।

1- शुक्ल0 40. 1

2- शुक्ल0 34. 6

याग -

यजुर्वेद मे सर्वत्र याग का महत्व प्रतिपादित है । वस्तुतः समग्र यजुर्वेद कर्मकाण्डीय ग्रन्थ है । अतः जगत् के सब कार्य यज्ञ से ही संभव है -

"आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां
चक्षु र्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां
पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्"।।[1]

याग से मेरी आयु कल्पित होवे । यज्ञ के द्वारा प्राण कल्पित होवे । चक्षु यज्ञ से कल्पित होवें । श्रोत यज्ञ से कल्पित होवे पीठ या पृष्ठ वंश यज्ञ से कल्पित होवे। सृष्टि के उत्पादक विराट् पुरुष को भी यज्ञ से ही उत्पन्न माना गया है । अतः यज्ञ ही मूल रूप से सृष्टि का जनक है ।

शुक्लयजुर्वेद में दार्शनिक सूक्तों एवं मन्त्रों का वर्णन मिलता है जिसका प्रमाण शुक्लयजुर्वेद के दो सूक्त महत्वपूर्ण उपनिषद है ईशोपनिषद्, शिवसंकल्पोपनिषद । इस प्रकार परवर्ती उपनिषदों तथा दर्शनो में तत्वचिन्तन पर जो व्यापक एवं गंभीर विचार देखने को मिलते हैं उनके सूत्र या बीज वेदों में ही निहित थे । इस दृष्टि से इस देश की बौद्धिक एवं वैचारिक उन्नति के मूल स्रोत वेद ही सिद्ध होते हैं ।

1- शुक्ल 0 - 9.21

सामाजिक जीवन

शुक्लयजुर्वेद कालीन समाज पितृसत्तात्मक समाज था । पिता ही प्रत्येक परिवार का मुखिया होता था । पुत्र तथा पुत्री बधू तथा पत्नी सब लोग उसी की छत्र-छाया में अपना सुखद समय बिताते थे । परिवार में सामान्यतः तीन पीढ़ी के लोग साथ-साथ रहते थे । शुक्लयजुर्वेद में अनेक अवसरों पर पिता-पितामह तथा प्रपितामह तीन का ही उल्लेख मिलता है । बेटे पोतों के लिये "तोक तनयं"[1] सामाजिक पद का प्रयोग भी मिलता है जो तीन पीढ़ी तक के संयुक्त परिवार की परम्परा का समर्थक है । कात्यायन श्रौतसूत्र में सोम यज्ञ करने वाले पिछली दस पीढ़ी के पितामहों का नाम लेकर प्रसर्पण का विधान है । किन्तु शुक्लयजुर्वेद में पिता पितामह, प्रपितामह के पश्चात् पितर शब्द का व्यवहार किया गया है। परिजनों के प्रति ज्येष्ठा अनुपूर्वक क्रम से सद्भाव एवं आदर रखने में परिवार की आस्था थी ।

> "नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च
> पूर्वजाय चापरजाय च नमो"[2]

ज्येष्ठ को नमस्कार और कनिष्ठ को नमस्कार है पूर्वज को नमस्कार और बाद में उत्पन्न को नमस्कार है । पिता पुत्र का हितचिन्तक था । पुत्र के लिये वीर तथा पुत्र दोनों शब्दों का प्रयोग होता था ।

> वीरं विदेय तव देवि संदृशि[3]

1- शुक्लयजु0 16.16

2- शुक्लयजु0 16.32

3- शुक्लयजु0 3.23

हे देवि तुम्हारी अनुकम्पा में रहकर मैं पुत्र प्राप्त करूँ । शतपथ में वर्णित है -

"य उ वै पुत्रः स पिता । यः पिता स पुत्रः"[1]

पूर्वजय में पिता द्वारा पालित होकर युवावस्था में पुत्र वृद्ध पिता का पालन-पोषण करता था । माता-पुत्र के सम्बन्ध अधिक भावुकतापूर्ण थे, क्योंकि कहा गया है - "पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मो अहं त्वाम्"[2]

हे माता मैं अनर्थक खोदने आदि के द्वारा तुम्हें हिंसित न करूँ । इस प्रकार माता पुत्र को हिंसित नहीं करती न ही पुत्र माता को हिंसित करता था । पुत्री को दुहिता कहा गया है । शुक्लयजुर्वेद में "भ्रातृव्य" शब्द का उल्लेख बार-बार हुआ है। यहाँ भ्रातृव्य का उल्लेख स्वशत्रु अर्थ में किया गया है ।

उपदधामि भ्रातृव्यस्यवधाय ।[3]

हे कपाल स्वशत्रु बध के लिये मैं तुम्हें अंगारों के ऊपर रखता हूँ । व्हिटनी ने इस शब्द का अर्थ "भतीजा" किया है । ऐसा प्रतीत होताहै कि विरासत की सम्पत्ति के लिये भ्रातृव्यों में पारस्परिक विद्वेष होता रहा होगा । अतः इसी पारस्परिक विद्वेष के कारण भ्रातृव्य का प्रयोग यदा-कदा शत्रु अर्थ में व्यंजित किया जाने लगा था फिर भी संयुक्त परिवार बटने के चिह्न परिलक्षित नहीं हैं । अथर्ववेद में भी भ्रातृव्यों की गणना बांधवों में ही की गई है ।

वर्ण व्यवस्था -

वस्तुतः भारतीय संस्कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता वर्ण-व्यवस्था है किसी भी समाज या राष्ट्र के लिये जिन प्रमुख मानवीय कार्य-व्यापारों का

1- शतपथ - 12. 4. 3. ।

2- शुक्लयजुर्वेद- 10. 8

3- शुक्लयजुर्वेद - 1. 17

होना आवश्यक होता है वे सब वर्ण-व्यवस्था में समाविष्ट हैं । वर्ण-व्यवस्था का मुख्य प्रयोजन कर्म विभाजन का सिद्धान्त: है । समाज के कार्य को ठीक प्रकार से चलाने के लिये वर्ण व्यवस्था का निर्माण किया गया । विभिन्न जातियों तथा वर्णों की जन्मना और कर्मणा स्थिति के सम्बन्ध में बड़ा मत-मतान्तर है । ऋग्वेद के एक मंत्र में कवि कहता है कि "मैं स्तुतिकर्ता हूँ मेरे पिता वैद्य हैं मेरी माता चक्कियों पर आटा पीसती हैं हम लोग विभिन्न व्यवसायों द्वारा धनोपार्जन करना चाहते है"[1] उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि वैदिक काल की वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म पर आधारित थी परन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार वर्ण व्यवस्था का आधार मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है । प्रत्येक मनुष्य में स्वाभाविक रूप से चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं उनमे से अपने स्वभाव के अनुसार किसी एक को चुन लेता है । "वर्ण विभाग चार व्यवसाय नहीं चार प्रकार ~~बक्स~~ की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ हैं वर्ण व्यवस्था मनुष्य को सामूहिक रूप से शरीर से आत्मा की ओर ले जाती हैं"[2] अत: परिवर्तनीय है किसी भी वर्ण का व्यक्ति अपने गुण या कर्म के आधार पर अपने वर्ण से उच्च या निम्न वर्ण में भी जा सकता है । वर्ण-व्यवस्था के रूप में वैदिक संस्कृति ने समाज के आध्यात्मिक दिशा की तरफ विकसित होने के एक महान सिद्धान्त का आविष्कार किया था ।

ब्राह्मण -

चारों वर्णों में ब्राह्मण को मुख इसलिये कहा गया है कि वह समाज में विद्या और ज्ञान की व्यवस्था करे । वैदिक युग मे ब्राह्मण और विद्या का अभेद्य सम्बन्ध था । वेदाध्ययन के साथ ही वेदाध्यापन भी ब्राह्मण का कर्तव्य

1- ऋग्वेद - 9. 112. 3

2- सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार वैदिकसंस्कृति के मुलतत्व पृ0 225 ।

था । शतपथ में ब्राह्मणों को देवत्व से भी मण्डित किया गया है । किन्तु विद्यावान् एवं विद्वान् ब्राह्मण ही मनुष्यों में देव सदृश कहे गए हैं -

"द्वया वे देवाः । देवाऽअहैव देवाः अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवासोऽनूचानाः ते मनुष्यदेवाः"।[1]

यज्ञ आदि सम्पादित करने वाले भी विद्वान् ब्राह्मण ही होते थे । वेदाध्ययन करने वाले ब्राह्मण विप्र कहलाते थे ।

"युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः"[2]

विद्वान् एवं महान् यजमान के विद्वान् एवं महान् ऋत्विज अपने मन को यज्ञकर्म में लगाते है । ब्राह्मणों का अधिकार दक्षिणा ग्रहण करना था जिसे प्रदान करना अन्य वर्णों का कर्तव्य था । ब्राह्मणों का कर्तव्य था कि वह अन्य के द्वारा अस्वीकृत दान न लें । ब्रह्मवर्चस (पवित्र ज्ञान) की उपलब्धि ब्राह्मण के लिए अपरिहार्य थी ब्राह्मणों को कृषि कार्य करने की भी छूट थी ।

"सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते
पृथक । धीरा देवेषु सुम्नया"[3]

अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता संज्ञक ऋत्विज के द्वारा बैलों से संगत एक गूलर के हल का इन मंत्रों से उपस्थान करता है अग्निक्षेत्र को जानने वाले तथा कृषि कर्म में कुशलजन हलों को बैलों से संगत करते हैं देवों से सुख पाने की अभिलाषा से वे खेत को जोतते हैं । ब्राह्मणों का परम कर्तव्य था कि वे अपनी आनुवंशिकता को पवित्र रखे ताकि सामाजिक अनुकरण के लक्ष्य बन सके । उनसे आचरण सम्बन्धी उत्कृष्टता की भी अपेक्षा की गयी है ।

1- शतपथ 4. 3. 4. 4
2- शुक्लयजुर्वेद- 5. 14
3- शुक्लयजुर्वेद- 12. 66

ब्राह्मणों के अधिकार -

उपर्युक्त कर्तव्यों के फलस्वरूप समाज ब्राह्मणों को उचित सम्मान देता था । उन्हें पुकारते समय विशिष्ट सम्बोधन एहि का प्रयोग किया जाता था ।

"हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि"[1]

यज्ञ का उच्छिष्ट केवल ब्राह्मण ही ग्रहण कर सकते थे । राजनैतिक जीवन में भी ब्राह्मणों का पर्याप्त प्रभाव द्रष्टव्य है ।

"सोमो अस्माकं ब्राह्मणानां राजा"[2]

ये कहने का तात्पर्य भी यही था कि राजा को ब्राह्मणेतर लोगों से कर लेना चाहिये । अर्थात् राजा ब्राह्मण के ऊपर शासन न करे । शतपथ के अनुसार ब्राह्मण की सम्पत्ति पर किसी का दखल नहीं था क्यों कि यदि कोई राजा किसी विशेष भू-भाग को किसी पुरोहित को दान देता था तो पुरोहित का उस भू-भाग में बसे ब्राह्मणों की सम्पत्ति पर कोई हक नहीं बनता था । ब्राह्मणों का जीवन सादगी और निर्धनता का था उनको अपने निर्वाह मात्र के लिये ही अन्न धन संचय करने की अनुमति थी । यज्ञ करना, यज्ञ कराना मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना पवित्र जीवन बिताना सदा सत्य बोलना ब्राह्मणों के अनिवार्य कर्तव्य थे ।

क्षत्रिय -

ब्राह्मण के पश्चात् क्षत्रिय वर्ण का महत्व था दूसरों को क्षत्" से रक्षा करने वाले का नाम ही क्षत्रिय है शुक्लयजुर्वेद में क्षत्रिय को राजन्य नाम भी दिया है । संभवतः राजन्य शब्द का प्रयोग क्षत्रिय वर्ण के लिये किया गया है तथा क्षत्रिय शब्द का प्रयोग शासक वर्ग के अर्थ मे किया गया है । समाज में क्षत्रिय

1- शुक्लयजुर्वेद - 1. 15

2- " "

को विशेष सम्बोधन "आद्रव" द्वारा पुकारा जाता था ब्रह्मवर्चसी होना जैसे ब्राह्मण की विशेषता थी तथैव क्षत्रिय से शौर्य की अपेक्षा की जाती थी ।

"राजन्यःशूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।।[1]

हमारे राष्ट्र में क्षत्रिय शूर लक्ष्यवेधी, धनुष बाणधारी तथा महारथी उत्पन्न होवें । तीनों ऋतुओं से तीनों सवर्णों का तादात्म्य स्थापित करने के प्रसंग में क्षत्रिय की उपमा ग्रीष्म से दी गई है जो इस वर्ण के रक्त की उष्णता को व्यक्त करती है । इसी क्षात्र-प्रवृत्ति के कारण क्षत्रिय का प्रतीक इन्द्र या इन्द्रानी को माना गया है।

"क्षत्रं वा इन्द्र ....क्षत्रं व इंद्राग्नी"[2]

अतः क्षत्रिय को सिरमौर स्वीकार किया गया । शुक्लयजुर्वेद के विचारानुसार ब्रह्म तथा क्षत्र का पूर्ण सामंजस्य ही लौकिक या भौतिक समृद्धि का मूल मन्त्र है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में शतपथ ने विवेचना का कोई दृष्टिकोण अछूता नहीं छोड़ा । प्रारम्भ में ब्रह्म तथा क्षत्र दोनों अलग थे । तब ब्रह्म क्षत्र से अलग स्थित रह सकता था किन्तु क्षत्र का ब्रह्म के बिना कोई अस्तित्व असम्भव था । क्षत्र जो कुछ ब्रह्म की सहायता के बिना करता था उसमें असफल रहता था । तब क्षत्र ने ब्रह्म को बुलाया और कहा कि प्रत्येक कार्य में मैं तुझे आगे रखूँगा । तेरे द्वारा निदेशित होकर कार्य करूँगा"।[3] अतः ब्राह्मण क्षत्रिय विहीन रह सकता है किन्तु यदि वह राजा चुन लेता है तो दोनों की सफलता निश्चित है । शुक्लयजुर्वेद में भी यही कहा गया है ।

"यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यन्चौ चरतः सह"[4]
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना"

1- शुक्ल० - 22.22

2- शतपथ - 2.5.2.27

3- शतपथ - 4.1.4.12

4- शुक्ल० - 20.25

जिस लोक में ब्राह्मण और क्षत्रिय साथ-साथ चलने वाले होकर रह रहे हैं और जहाँ अग्नि के साथ-साथ अन्य देव भी विद्यमान है । मैं उसी पुण्यलभ्य ब्रह्मलोक को जानूँ प्राप्त करूँ ।

"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" कथन का अभिप्राय केवल "ब्रह्म" को "क्षत्र" के उत्ताप से मुक्त रख ब्रह्म के वर्चस्व को कायम रखना ही था । ब्रह्म तथा क्षत्र दोनों श्री परिगृहीत है । दोनों वीर्यवान शक्तियाँ हैं तथा सजातीयों को रक्षक है ।

"ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भातृव्यस्य बधाय"[1]

ब्राह्मण द्वारा वरण किये गये क्षत्रिय के द्वारा वरण किये गये हे कपाल मैतुम्हें स्वशत्रु बध के लिये अंगारों के ऊपर रखता हूँ । इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था को दृष्टि से ब्रह्म तथा क्षत्र का सम्मिलित नेतृत्व अपेक्षित था ।

वैश्य -

वैश्य वर्ण "विश" शब्द द्वारा ही अधिकांशतः अभिव्यक्त हुआ है । "विश" ब्रह्म एवं क्षत्र पर आश्रित था अतः वर्णक्रम में इसकी दोनों से हीनतर स्थिति स्पष्ट थी । फिर भी तीन सजातीय सवर्णों में वैश्यों का स्थान था । वैश्य को "आगहि" सम्बोधन द्वारा पुकारा जाता था । कृषक एवं व्यापारी वर्ग ही मुख्यतः विशवर्ग में आते थे वैश्य को "अर्य" भी कहा जाता था ।

"बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद्द्युमद्विभाति क्रतु मज्जनेषु"[2]

हे बृहस्पते जिस रमणीय रत्नादि के लिये वैश्य अत्यन्त स्पृहा करता है । जो यजन का हेतु है जो जब साधारण मे अत्यंत स्पृहावान है । तैत्तिरीय संहिता के अनुसार

1- शुक्ल० - 1. 17

2- शुक्ल० - 26. 2

वैश्यों का आदर्श ग्रामणी होता था । राजा के अभिषेक के अवसर पर ग्रामणी की उपस्थिति अनिवार्य थी अतः वैश्य का राज्य प्रशासन में भाग लेना प्रमाणित है । समूहवाचक विश शब्द का यत्र-तत्र प्रयोग मिलता है ।

"दैवी विशः"[1]

लेन-देन का व्यवहार (पण्य) वैश्य लोग करते थे । वैश्य वर्ण समाज का विस्तृत समृद्ध तथा आधारभूत अंग उस समय तक बन चुका था । इस स्थितिके कारण ही ब्राह्मणों का वर्चस्व एवं क्षत्रियों की उर्जा स्थित थी ।

__शूद्र__ -

सेवा-वृत्ति ही शूद्र वर्ण की जीविका का साधन थी । शूद्र वर्ण समाज के प्रति उत्तरदायी रहकर अपने कर्तव्यों का निर्वाह करता था शूद्र का विशेष कर्तव्य था द्विजातियों की सेवा करना और उनसे भरण पोषण पाना । यज्ञ की अग्नि शूद्र के लिये अस्पृश्य थी । दीक्षित व्यक्ति को शूद्र से न बोलने के आदेश दिए गए हैं । यज्ञ में "नापित" की स्थिति अनिवार्य थी । सोमयज्ञ के समय नापित को आदेश दिया गया है-

"शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः"[2]

मुण्डन के समय छुरे को हाथ में लेकर हे छुरे तुम शिव नाम वाले हो । वज्र तुम्हारा पिता है तुम्हें नमस्कार है तुम हमें हिंसित मत करो । बढ़ई भी तत्कालीन समाज में महत्वपूर्ण समाज-सेवक था जो घर में उपयोग आने वाली वस्तुओं जैसे स्त्रुवा, स्त्रुक, सम्मूजनी, शूर्प आदि बनाता था । घर में उपयोग होने वाली वस्तुओं के अतिरिक्त वह यज्ञ शकट तथा शस्त्रादि बनाता था । उसे तक्षा कहा गया है । रथकार संभवतः

1- शुक्ल0 - 28. 14

2- शुक्ल0- 3. 63

तक्षा से भिन्न था । ऐसा प्रतीत होता है तक्षों द्वारा निर्मित वस्तुओं का यज्ञ में बहुशः प्रयोग होने के कारण इन्हें शूद्रों में ऊँचा स्थान दिया गया है । साथ ही शूद्र होने के कारण इनके द्वारा निर्मित पात्रों को पवित्रा से प्रोक्षण कर्म द्वारा शुद्ध भी किया जाता था ।

इस प्रकार चारों वर्णों का समाज में अपना महत्त्व है । समाज किसी की उन्नति में बाधक नहीं है कुछ विचारकों की दृष्टि में वर्ण-व्यवस्था ने भारत की एकता को भंग किया इसके आधार पर अनेक जातियों और उपजातियों का आविर्भाव हुआ । जिनसे भारतीय आर्यों की एकता नष्ट हो गयी और आपस में अनेक प्रकार के भेद-भाव उत्पन्न हो गये हैं । केवल विवाह आदि के विषय में ही नहीं अपितु खान-पान रहन-सहन आदि में भी ऐसे भेद उत्पन्न हो गये । जिन्हें दूर करना कठिन ही नहीं असंभव प्रतीत होता है । इन विचारकों की शंका किसी अंश में सत्य कही जा सकती है किन्तु यह ध्यान रखने योग्य है कि किसी भी राष्ट्र में विविध विभाग हुआ ही करते हैं । भारत राष्ट्र भी इन विभागों से बच नहीं सकता है हाँ वे विभाग जन्म के आधार पर नहीं गुण-कर्म के आधार पर होंगे तो इस प्रकार का भेद-भाव उत्पन्न नहीं हो सकेगा ।

नारी की स्थिति -

भारतीय समाज मे पुरुष एवं स्त्री को जीवन रूपी रथ का दो चक्र माना गया है जिस प्रकार किसी एक चक्र के बिना रथ की गति असम्भव है उसी प्रकार जीवन में स्त्री और पुरुष दोनों का समान महत्व है । समाज में नारियों की स्थिति एवं उससे सम्बन्धित धारणाओं के ज्ञान के बिना किसी भी समाज का सांस्कृतिक अध्ययन अपूर्ण ही कहा जायेगा अतः शुक्लयजुर्वेदकालीन नारी के स्वरूप एवं समाज में उसके स्थान को जानना आवश्यक है । शुक्लयजुर्वेद में नारी के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है किन्तु स्त्री का वास्तविक स्वरूप "पत्नी"

ही माना गया है । ऋग्वेद में जहाँ स्त्री के जाया (जायते यस्या:) तथा गृहिणी रूप की प्रशंसा की गई है वहाँ श0 में उसका "पत्नी" रूप अधिक मुखरित हुआ है। पति स्त्री की प्रतिष्ठा माना जाता था । शतपथ में कहा गया है पत्नी के बिना पुरुष स्वर्ग नहीं जा सकता है । स्त्री पुरुष का अर्धभाग है । अर्धांगिनी होने के नाते पत्नी पति के साथ प्रत्येक श्रेष्ठ कार्य में अनिवार्य रूप में भाग लेती थी । अपत्नीक व्यक्ति यज्ञ के अयोग्य होने के कारण हेय दृष्टि से देखा जाता था-

"अयोग्यो वा ह्येष यो अपत्नीक:"[1]

शुक्ल यजुर्वेद में स्त्री के निम्न अर्धभाग को अमेध्य समझा जाता था । अत: यज्ञ से पूर्व उसकी शुद्धि की जाती थी ।

"आदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्योऽस्यूर्जे
त्वाऽब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि" ।[2]

मूँज की त्रिवृता रस्सी से गार्हपत्याग्नि के दक्षिण भाग में बैठी हुयी यजमान पत्नी को बाँधते हैं । हे रज्जु तुम पृथ्वी की बन्धिका रस्सी हो हे दक्षिण पाश तुम यज्ञ में व्यापनशील हो हे आज्य तुम्हें अन्न प्राप्त करने के लिये अहिंसक चक्षु से देखता हूँ । इस प्रकार स्त्रियों में पर्दा प्रथा की कल्पना अस्वाभाविक है क्यों कि स्त्रियां सामान्यतया यज्ञ में भाग लेती थी । स्त्रियों को नृत्य तथा संगीत से भी प्रेम था शतपथ के अनुसार ये पुरुषोपम विधायें नहीं हैं -

"योषा तस्माद्य एव नृत्यति यो गायति ।
तस्मिन्नेवता नियश्रवतमा इव ।[3]

जो गाता, बजाता है स्त्रियाँ उसी पर मोहित हो जाती हैं ।

1- तैत्तिरीय ब्राह्मण - 2. 2. 12

2- शुक्लयजुर्वेद - 1. 30

3- शतपथ - 3. 2. 4. 6

शुक्लयजुर्वेद में दम्पति शब्द का प्रयोग पति पत्नी के लिये किया गया है । पत्नी के बिना पति अपूर्ण है । शुक्लयजुर्वेद में कुमारियाँ त्र्यम्बक देव शिव का पूजन करते हुये कामना करती हैं कि हम पतिगृह से कभी नहीं टूटे ।

"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पतिवेदनम

उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः"[1]

सुगन्धवान् तथा पति को प्राप्त कराने वाले त्रिनेत्र शिव को हम पूजती है । पके हुये खरबूजे के समान हम कुमारियाँ विवाहोपरान्त इस पितृगृह से छूट जावें । परन्तु पतिगृह से कभी विमुक्ता न होवें । नारी का पति से संयुक्त रूप ही समाज द्वारा अंगीकृत रूप था । पति स्त्री की प्रतिष्ठा माना जाता था । स्त्री पति तथा पुत्र के साथ सुखपूर्वक रहने की कामना करती है ।

"त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान्पशून्मयि धेहि

प्रजामस्मासु धेह्यरिष्टाह सह पत्या भूयासम"।।[2]

हे महावीर वीर्य के अधिदेवता त्वष्टा से युक्त हम स्त्रियाँ तुम्हें मैथुन के लिये स्पर्श करती हैं । पुत्रों और गायों आदि पशुओं को तुम मुझमें धारित करो । प्रजा को हमारे अंदर धारित करो । इस पति के साथ रहकर मैं सदा अहिंसिता होऊँ । ऋग्वेद में विवाह के समय प्रार्थना की गयी है ।

"दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि"[3]

हे इन्द्र देव इस स्त्री के दश पुत्र दो जिससे इसका पति ग्यारहवाँ होवें । शुक्ल-यजुर्वेद में भी मंत्रों में वीर पुत्र की कामना की गयी है । माँ के रूप में नारी का व्यक्तित्व वात्सल्यपूर्ण था । अतः स्त्री को अम्बा भी कहा गया है । इस प्रकार

1- शुक्लयजुर्वेद - 2.63

2- " " - 37.20

3- ऋग्वेद -

वैदिक युग में सामाजिक संकीर्णता और दुराग्रह नहीं था । पुरुषों के समान ही नारियों का अधिकार था । यज्ञों उत्सवों क्रीडा-कौतुकों और प्रतियोगिताओं में भाग लेने का दोनों को समान अधिकार प्राप्त था । ऐसा कोई भी सार्वजनिक धार्मिक तथा सामूहिक कार्य नहीं था जिसमें नारियाँ न भाग लेती हों वैदिक युग की नारी पुरुष को प्रेरणा देने वाली विदुषी और उत्तम ज्ञान देने वाली थी ।

शिक्षा व्यवस्था -

वैदिक युग में शिक्षा के तीन सोपान प्रचलित थे । 1- श्रवण, 2- मनन 3- निदिध्यासन । सर्वप्रथम छात्र वैदिक मंत्रों को गुरु-मुख से सुनते थे फिर सुने हुये मंत्रों का मनन-चिन्तन होता था । मनन-चिन्तन के उपरान्त छात्र वेद-तत्व की आत्मनुभूति करते थे यही निदिध्यासन है । विषय क्रम के अनुसार ही वैदिक विद्यालयों में विद्यार्थियों को होतृ, अध्वर्यु, उदगातृ, तथा ब्राह्मण इन चार शाखा में विभक्त कर दिया गया था । होतृ विद्यार्थी पद्यात्मक ऋग्वेद, अध्वर्यु गद्यात्मक यजुर्वेद, तथा उद्गातृ सामवेद का अध्ययन करते थे । शुक्ल-यजुर्वेद कालीन युग में प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी था।

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च"[1]

वैदिक युग में गुरु शिष्य को शिक्षा देता है एक स्थल पर गुरु-शिष्य सम्बन्ध दृष्टि-गोचर होता है ।

"तेजोऽसि तेजो मयि धेहि
वीर्यऽमसि वीर्यं मयि धेहि"[2]

1- शुक्लयजुर्वेद - 26.2

2- शु0 - 19.9

तुम तेजवान हो मुझमें तेज भरो । तुम वीर्यवान् हो मुझ में वीर्य भरो । "सर्व वेदात् प्रसिध्यति" जैसे वाक्यों का मुख्य अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि वेद में सब विद्यायें पूर्ण, विकसित रूप में तो नही परन्तु सिद्धान्त रूप में अथवा बीज रूप में अवश्य ही विद्यमान हैं । इसी आधार पर गणित सम्बन्धी कुछ तत्व शुक्लयजुर्वेद में भी दृष्टिगोचर है । गणित का मूल-आधार गणना अथवा अंक और संख्या है संख्याओं को प्रकट करने में शून्य का बहुत बड़ा योगदान है । यह सुविज्ञात तथ्य है कि शून्य का ज्ञान सर्वप्रथम भारत को हुआ इसका मूल संकेत अथर्ववेद में है । जहाँ यह बताया गया है कि शून्य लगाने से संख्या दसगुणा बढ़ती जाती है । यद्यपि शुक्लयजुर्वेद में शून्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है तथापि जिस क्रम से संख्याओं का उल्लेख है । उससे शून्य का ज्ञान स्वतः अनुमेद है । शुक्लयजुर्वेद में वर्णन है ।

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश
च दश च शतं च सहस्त्रं च सहस्त्रं च"[1]

इन संख्याओं को अंकों में लिखने पर गुणोत्तर श्रेणी स्पष्ट हो जाती है ।
10, 100, 1000, 10000, इत्यादि महापरार्थ तक की संख्या 18 अंकों की है ।
जब कि कोई भी प्राचीन सभ्यता 1000 तक से अधिक गिनती नहीं जानती थी ।
यजुर्वेद में मंत्र है-

"इय वेदिःपरोऽन्तः पृथिव्या
अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः" ।[2]

इस मंत्र में रेखागणित का संकेत है । जिसमें वृत्त की परिधि (परोऽन्तः) और नाभि(केन्द्र) का उल्लेख हुआ है । शुक्लयजुर्वेद में एक से लेकर तैंतीस तक विषम संख्यायें लगातार इस प्रकार दी गयी है कि प्रत्येक परवर्ती संख्या को अगली संख्या

1- शु0 - 17.2

2- शु0 - 23.62

को पूर्ववर्ती होकर पुनरावृत्ति होती है । शुक्लयजुर्वेद के कुछ उद्धरणों से ज्ञात होता है कि उस युग में लेखन कला का ज्ञान था ।

"मां मा लेखी"[1]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उस युग में शिक्षा व्यवस्था उन्नत थी ।

खाद्य एवं पेय -

वैदिक आर्यों का भोजन सीधा सादा स्वास्थ्यवर्धक तथा सात्विक होता था जिसमें दूध और घी की प्रचुरता रहती थी । शु0 में खाद्य तथा पेय दोनों के सामूहिक महत्व को स्वीकार किया गया है । खाद्य तथा पेय दोनों मिलकर ही भोजन में सरसता के उत्पादक हैं । भोजन का उद्देश्य आनन्द व तृप्ति था । "तृप्तिरेवास्य गतिः" तस्माद्यदाऽन्नस्यतृप्यति अथ स गत इव मन्यते आनन्द एवास्य विज्ञानमात्मा"[2]

तृप्ति से तात्पर्य आकण्ठपूरित भोजन करना न होकर सुस्वादु भोजन करना था । शुक्लयजुर्वेद सुस्वादु मधुर भोजन की कामना की गयी है -

"मधुमतीर्न इषस्कृधि"[3]

हे सोम तुम हमारे अन्नों को मधुर रस युक्त एवं मधुर स्वादयुक्त करो । उस समय समृद्ध घरों का प्रमुख खाद्यान्न गेहूँ था ।[4] कूटे या पीसे हुये अन्न को "पिष्ट" कहा जाता था । यव का मोटा आटा कूटकर तथा तिवऊ से छानकर उसका सत्तू बनाया जाता था जो भोजन तथा यज्ञ की हवि दोनों रूपों मे काम आता था ।

1- महीधर और उव्वट ने अपने भाष्य में "लिख अक्षर विन्यासे अर्थ किया है।

2- शतपथ 10. 3. 5. 13

3- शुक्लयजुर्वेद- 7. 12

4- " " - 18. 12

"अपूप" शुक्लयजुर्वेदकालीन आर्यों का प्रिय भोजन था । जौ तथा चावलों को भूनकर अथवा पीसकर घी में मिलाकर अपूप बनाये जाते थे ।

"यस्ते अद्यकृणवद्भद्र शोचेऽपूपं देव घृतवन्त मग्ने"[1]

हे द्योतमान "अग्ने" आज जिस यजमान ने घृत मे डूबे हुए पुरोडाश को तुम्हारे लिये पकाया है । अपूप एक प्रकार का मिष्ठान्न था । आजकल जौ के अपूपों को "पुए" तथा चावल के अपूपों को संदेश कहा जाता है । एक बात ध्यान देने की है कि अधिकांश भारतीयों का प्रधान खाद्य गेहूँ ऋग्वेद में उल्लिखित नहीं है इसका नाम सर्वप्रथम शुक्लयजुर्वेद तथा तत्संबद्ध शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में आता है । एक स्थान पर पाँच व्यंजनों का एक साथ उल्लेख मिलता है -

"धाना करम्भ सक्तवः परीवापः पयो दधि"[2]

भुने हुये अनाज, जल का मेथ, सतुआ, हविष्पंक्ति दूध और दही यह सोम के प्रतिनिधि जानना चाहिये । धाना भुने हुये जौ थे जिन्हें यदा-कदा सोम से मिलाकर भी खाया जाता था । करम्भ तत्कालीन बहुप्रचलित खाद्य हैं । जिसका बारम्बार उल्लेख मिलता है । महीधर उवट ने अपने अपने भाष्य में इसका "उदकमंथ" अर्थ किया है । सायण ने एक स्थान पर इसी "दध्नासंयुता सक्तवः" कहा है । वस्तुतः करम्भ आज का प्रमुख खाद्य राबड़ी का पूर्व रूप ही था जो उस समय भी आज की भाँति सामान्य जनता का खाद्य था । दूध को मथकर तथा उबालकर खाया जाता था । ओदन तत्कालीन आर्यों का अत्यधिक रुचिकर भोजन प्रतीत होता है जिसे विविधता से बनाया जाता था। क्षीरोदान, दध्योदन, आदि के उल्लेख से विभिन्न मिश्रणों द्वारा चावल पकाये जाने का संकेत उपलब्ध होता है । दालों में तीन दाल मूँग, मसूर, उड़द विशेष रूप से काम में आती थी ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 12.26

2- शु० - 19.21

ब्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च में

तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे

प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्चमे

नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्"[1]

धान, जौ, उड़द, तिल, मूँग, चने काकुन, साँवाँ कोदो, नीवार, गेहूँ और मसूर मुझे यज्ञ के द्वारा सम्प्राप्त होवें । अन्न को घृतादि में भूनकर सम्भवतया लाज नामक व्यंजन तैयार किया जाता था[2] । दही के अनेक व्यंजनों का उल्लेख शुक्लयजुर्वेद में प्राप्त होता है ।

"पयसो रूपं यद्यवा दध्नो रूपं कर्कन्धूनि

सोमस्य रूपं वाजिन सौम्यस्य रूप मामिक्षा"[3]

यव दूध का रूप है । बेर दही का रूप है । छेनाजल सोम का रूप है और छेना सोम्य चरु का रूप है जमे हुये दही के आगार को "आमिक्षा" कहते थे[4] । दही को मथकर तुरन्त निकाला हुआ घी "नवनीत" कुछ पिघला हुआ अथवा बिलकुल पिघला हुआ "आज्य"[5] तथा जमा हुआ घी "घृत"[6] कहलाता था । इनकी विशिष्टता का भी निर्देश मिलता था । ऐतरेय के कथनानुसार -

"सुरभि घृत मनुष्यणामायुतं पितृणां नवनीतं गर्भाणां"[7]

1- शुक्लयजुर्वेद - 18.12

2- " - 21.42

3- " - 19.23

4- " - 4.3

5- " - 28.11

6- " - 17.90

7- ऐतरेय ब्रा० - 1.3

अर्थात् आज्य देवताओं के लिये प्रिय होता था । "घृत" मनुष्यों के लिये आयुत पितरों के लिये नवनीत गर्भ के लिये होता था । भोजन को मधुर बनाने के लिये मधु का प्रयोग प्रचलित था किन्तु अनेक बार सोम रस तथा दूध को भी मधु कहा गया है ।

"क्रयस्य रूप सोमस्य लाजा:सोमांशवो मधु"[1]

खीले सोमक्रय का स्वरूप है सोम खण्ड मधुर सोमरस का स्वरूप है । यहाँ मधु शब्द खील और सोमखण्ड के मधुर स्वाद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । भोजन में मसालों के योगदान के उल्लेख का नितान्त अभाव है । आर्य लोग वृक्ष पके हुये फल भी खाया करते थे । कुवल बदर कर्कन्धु[2] के अतिरिक्त फलों के ज्ञान का सर्वथा अभाव है । सब्जियों में मात्र "उर्वारिकम्"[3] का उल्लेख मिलता है ।

पेय -

वैदिक आर्यों का प्रधान पेय सोमरस था । जिसे वे अपने इष्ट देवता को अर्पित कर स्वयं पीते थे यज्ञों के अवसर पर सोमरस का सेवन तथा भिन्न-भिन्न देवताओं को समर्पण एक महत्वपूर्ण व्यापार था । सोम पर्वतों पर विशेषत: मूजवत् पर्वत पर उगता था ।

उपहरे गिरीणां संगमे चनदीनाम् धिया विप्रो अजायत"[4]

अर्थात् पर्वतों के निकट और नदियों के संगमस्थल में यज्ञोपयोग बुद्धि से सोम उत्पन्न होता है । वहाँ से सोम लाया जाता है तथा पत्थरों (ग्रावा) से कटकर इसका

1- शुक्ल० - 19. 13

2- " - 19. 23

3- " - 3. 60

4- " - 26. 15

रस निकाला जाता था । कभी-कभी इस काम में ओरवल तथा मूशल को भी सहायता ली जाती थी तब पानी मिलाकर उसे पवित्र से छाना जाता था ।

"अध्वर्यो अद्रिभिः सुतसोमं पवित्र आनय"[1]

अर्थात् हे अध्वर्यो पत्थरों के द्वारा कूटकर अभिषण किये गये सोमरस को तुम दशा पवित्र में छानो । इसको पीने से शरीर भर मे विचित्र उत्साह आ जाता है और मन में एक प्रकार की मोहक मस्ती छा जाती थी । यही कारण है कि ऋषियों ने सोम की स्तुति में सैकड़ो शोभन सूक्तों की रचना की । ऋग्वेद का नवम् मण्डल सोम की प्रशंसा से भरा पड़ा है । "सोम रस के पान से उत्पन्न उल्लास की अभिव्यक्ति अनेक मन्त्रों में अत्यंत रमणीय कल्पना के सहारे की गई है -

"अपाम् सोममममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।[2]

काण्व ऋषि आनन्द की मस्ती में कह रहे हैं हमनें सोम का पान किया है हमने अमरत्व पा लिया है ज्योतिर्मय स्वर्ग की प्राप्ति हमने कर ली है । इन मनोरम उद्गारों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सोमरस के पीने से मानसिक उल्लास तथा शारीरिक स्फूर्ति की अवश्य उत्पत्ति होती थी । सोम रस का रंग भूरा {बभ्रु} लाल {अरुण} बताया गया है । मधुरता की प्रचुरता के लिये इसमें दूध मिलाते थे । इन्द्र का प्रधान पेय सोमरस था ।

"इन्द्रायाहि वृत्रहन्पिबा सोम शतक्रतो ।
गोमद्भिर्ग्रावभिर्सुतम् "।[3]

हे वृत्रहन इन्द्र यहाँ यज्ञ में आओ हे शतप्रज्ञ तुम सोमरस को पिओ । यह गाय के दूध के साथ पत्थरों से अभिषुत है । सक्तु दो मिश्रित सोम " मन्थी[4] होता है ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 20.31
2- ऋग्वेद - 8.48.3
3- शुक्ल0 - 26.5
4- " - 8.57

सोम विशिष्ट वर्ग का पेय था । सामान्य लोगों में "सुरा" का प्रचलन था । सुरा बहुत तेज मादक मद्य सी प्रतीत होती है । शु0 में एक स्थल पर सुरा सोम में भेद बताया गयाहै -

"नाना हि वां देवहितसदस्कृतं मासंसृक्षाथ्यापरमेव्योमन् सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोम एब मा मा हिंसीः स्वां योनिमाविशन्ती"[1]

हे सुरा सोम तुम दोनों के लिये पृथक-पृथक स्थान बनाए गए हैं । वे स्थान देवों का हित करने वाले हैं । उत्तम वेदिस्थान में तुम दोनों कभी मिल न जाना हे सुरे तुम बलशालिनी सुरा हो और यह शुद्ध सोमरस है तुम अपनी भूमि में स्थान ग्रहण करती हुई कभी इस सोम को हिंसित न करना । सुरा के प्रभाव से मनुष्य अपराध और अनिष्ट कर बैठते थे इसीलिये सुरा की गणना मन्यु {क्रोध} विभिदक" {जुआ} के साथ अग्निष्टोत्पादक वस्तु के रूप में की गयी है । इसीलिये वैदिक समाज ने सोमपान को उत्तेजना दी और सुरापान की पर्याप्त निन्दा की ।

उपर्युक्त स्वास्थ्यवर्धक विविधतापूर्ण एवं रुचिकर खाद्य एवं पेय विवरण शुक्लयजुर्वेदकालीन आर्यों के आहार की समृद्धि का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ है ।

व्रत -पर्व -

वैदिक आर्यों के जीवन में उपासना का महत्वपूर्ण स्थान था वे अम अपने प्रत्येक कार्य की पूर्ति में ईश्वर की सहायता की अपेक्षा करते थे और प्राप्त कार्य को ईश्वर की कृपा मानते थे । उनकी धारणा थी कि प्राणी के प्रति सद् - व्यवहार और श्रेष्ठ आचरण ही ईश्वर की सच्ची उपासना है । सम्भवतः इसीलिये

1- शुक्लयजुर्वेद - 19.7

वैदिक आर्य एक स्थल पर वेद में अनृत से सत्य की ओर बढ़ने का संकल्प करता है ।

"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि "[1]

हे व्रतपति मैं व्रत का आचरण करूँगा उसके अनुष्ठान मे मैं समर्थ होऊँ वह मेरा कर्म निर्विघ्न सम्पन्न करिये, यह मै असत्य सेसत्य को प्राप्त होता है । यहाँ व्रत का अभिप्राय कर्म बताया गया है । इस उपरोक्त मन्त्र के भाष्य में उव्वट ने व्रत का अर्थ "सत्यादिकम्" किया है महीधर ने "अनुष्ठेयं कर्म" किया है । शतपथ में वर्णित है कि व्रत करने वाला मनुष्य आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों के बीच पूर्वाभिमुख खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है ।

"तद्यद उपस्पृशत्यमेध्यो वैपुरुषो यदनृत वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वाऽयो मेध्योभूत्वा व्रतमुपायानीति "[2]

जल इसलिये छूता है कि मनुष्य अपवित्र है वह झूठ बोलता है । जल के स्पर्श से उसकी शुद्धि हो जाती है प्रयोजन यह है कि "पवित्र होकर व्रत करूँ । व्रत का देवता विष्णु को कहा गया है ।

"विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे"[3]

अर्थात् विष्णु के वीर कर्मों को देखो जिस विष्णु से ही यह समस्त व्रत बंध रहे है । व्रत करने के द्वारा ही मनुष्य अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करता है ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयामाप्नोति दक्षिणाम्
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते "[4]

1- शुक्लयजुर्वेद - 1.5

2- शतपथ - 1.1.1.1

3- शुक्लयजुर्वेद- 6.4

4- शुक्लयजुर्वेद- 19.30

व्रत से दीक्षा को प्राप्त करता है दीक्षा से दक्षिणा को दक्षिणा से श्रद्धा को प्राप्त करता और श्रद्धा से सत्यब्रह्म को प्राप्त करता है । व्रत करने वाले को बिना दक्षिणा दिये अभीष्ट फल नहीं प्राप्त हो सकता इसलिये व्रत करने वाले के बिना दक्षिणा दिये व्रत का समापन नहीं करना चाहिये । इष्टि को समाप्ति होने पर मनुष्य अपने व्रत को समाप्त करता है ।

"अग्ने व्रतपते व्रतमचारिष तदशकं तन्मेऽराधीदमह एवास्मि सोऽस्मि"[1]

हे व्रत के पालक अग्नि मैंने यज्ञ रूप व्रत का आचरण किया । मैंने उसे विधिपूर्वक समाप्त कर सका । अब इस व्रत को समाप्त करके मैं जो था वही हो गया।अर्थात्

गृह निर्माण और घरेलू सामान -

वैदिक कालीन आर्य भवन निर्माण कला में विशेष रुचि रखते हुये दिखाई देते हैं । वैदिक मन्त्रो में घर के अर्थ को सूचित करने वाले गृह आयतन पस्त्या हर्म्य, दुरोण आदि अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं जो गृह की विशिष्टता को लक्ष्य कर प्रयुक्त किये गये हैं । चारों ओर दीवालों से घिरे रहने के कारण घर "आयतन"[2] कहलाता है तथा दरवाजा होने के कारण उसे "दुरोण"[3] के नाम से पुकारते हैं । घरों को बनाने के लिये बाँस मिट्टी लकड़ी पत्थर आदि प्रधान सामान थे । शु0 में सदस नामक मण्डप के निर्माण का वर्णन है ।

"ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात् । घृतेन द्यावा-
पृथिवीपूर्येधामिन्द्रस्यछदिरसि विश्वजनस्य छाया"[4]

1- शुक्लयजुर्वेद - 2.5
2- " - 5.28
3- " - 10.24
4- " - 5.28

हे गूलर की शाखा तुम दृढ़ आरोपिता हो । यह यजमान अपने घर में प्रजा तथा पशुओं से परिपुष्ट होवे घृत से द्यावापृथ्वी को पूरित करो । गूलर की शाखा को गाडकर उसके ऊपर मण्डप बनावे मण्डप बनाने केलिये शाखा के ऊपर एकचटाई की छाजन छावे हे छाजन तुम इन्द्र की छाजन हो तुम यजमानादि को छाया करने वाली हो । उपरोक्त मन्त्रार्थ से यह प्रतीत होता कि सर्वप्रथम घर बनाने के लिये लकड़ी के खम्भे गाड़े जाते थे जिन पर सीधी या आड़ी धरने रखी जाती थीं इन धरनों के ऊपर बाँस के बड़े-बड़े लट्ठे रखे जाते थे इन बाँसों के ऊपर छाजन डाला जाता था । बाँस के टुकड़े काटकर छाजन बनाने का काम लिया जाता था। वैदिक घरों में आवश्यकतानुसार अलग-अलग कमरे हुआ करते थे । इस प्रसंग में हविधान, अग्निशाला पत्नीनासदनम्, तथा सदस[1] इन चार शब्दों का उल्लेख मिलता है जो यज्ञ के प्रसंग में मुख्यतया निर्दिष्ट होने पर भी साधारण घरों के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं । शुक्लयजुर्वेदकालीन गृह में दरवाजों में सिटकिनी लगी रहती थी[2] । वैदिक आर्य अपने घरों की सुख शान्ति की कामना करता है ।

> उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः अथो
> अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः
> क्षेमा वः शान्त्यै प्रपद्ये शिव शग्मशंयो शंयो[3]

अर्थात् इस घर में गाएँ बुलाई गई । यहाँ भेड़ बकरियाँ बुलाई गई थी हमारे इन्हीं घरों में खाया पिया गया था । हे घरो कल्याण एवं शान्ति के लिये मैं तुममे प्रवेश करता हूँ शुभ सुख की प्राप्ति और भय का दूरीकरण हमें प्राप्त होवें । सुखों की

1- अथर्ववेद - 3. 3. 4

2- शुक्लयजुर्वेद- 28, 13

3- " - 2/43

प्राप्ति तथा भयों का दूरीकरण हमें इन घरों मे प्राप्त होवें । वैदिक आर्य प्रार्थना करता है कि हमारे इन घरों में सब प्रकार की सुख सुविधाओं का निवास हो ।

वैदिक घरों में नित्य काम में आने वाली चीजें सीधी-सादी उपयोगी तथा नाना प्रकार की है । उनके प्रयोग करने से उस समय की भौतिक दशा का परिचय भली-भाँति लगता है । बैठने तथा लेटने के अनेक आसनों का वर्णन मिलता है । याज्ञिक अनुष्ठान के अवसर पर कुश के बने हुये "प्रस्तर"[1] "बर्हि"[2] कूर्च का उपयोग किया जाता था ऋग्वेद में आसन्दी का उल्लेख नहीं है लेकिन शुक्लयजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में इसका विस्तृत वर्णन तथा उपयोग उपलब्ध होता है । इन ग्रन्थों के अनुशीलन से राजा महाराजाओं के द्वारा अभिषेक आदि अवसरों पर प्रयुक्त यह एक आराम देने वाली गद्दी या गद्दीदार आरामकुर्सी जान पड़ती है ।

"स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि"[3]

राजसूय यज्ञ के अवसर पर राजा का अभिषेक करने के उपरान्त आसन्दी पर बिठाया जाता है और कहा जाता है कि हे आसन्दी तुम सुख देने वाली सुखस्वरूपा हो तुम सुख से बैठने योग्य हो आसन्दी राज्यसिंहासन सी प्रतीत होती है । ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ में राज्याभिषेक के अवसर पर "आसन्दी" के अंगप्रत्यंग का विस्तृत सूक्ष्म वर्णन मिलता है । नाना प्रकार की घरेलू वस्तुओं को रखने के लिये मिट्टी और धातु के बने "कलश" लकड़ी के बने "द्रोण" चाम के बने इति का प्रयोग प्रत्येक घर में होता था । यज्ञ के अवसर पर हविष्य पकाने के लिये उखा तथा

1- शुक्लयजुर्वेद - 2.19

2- " - 21.57

3- " - 10.26

घरेलू अवसरों पर पकाने के लिये "स्थाली" काम में लायी जाती थी । जाँत {पृषवउपल} से अनाज पीसे जाते थे । काठ के बने हुये ओखल {उलूखल} तथा मूशल से अनाज या सोमलता के कूटने का काम लिया जाता था । सूप {शूर्प} तथा चलनी से भूसी से अनाज को अलग किया जाता था । वैदिक आर्यों की घरेलू चीजों तथा सामान से यह स्पष्ट है कि जीवन को सुखमय बनाने वाली आवश्यक सामग्री वैदिक घरों में नित्य सन्निहित रहती थीं जिससे आर्यों का जीवन सादगी के साथ-साथ आनन्दोल्लास से भरा रहता था ।

लोकजीवन -

किसी जाति के शिष्टाचार उसकी सांस्कृतिक विशेषताओं के प्रकाशक होते हैं । आचारों में शिष्टता ही मनुष्य को अन्य प्राणि-जगत् से विशिष्ट बना देती है । शुक्ल यजुर्वेद में सांस्कृतिक परिष्कार के कुछ उच्च आदर्श उपलब्ध होते हैं । अतिथि के आने पर उसे भोजन खिलाये बिना घर में कोई व्यक्ति भोजन नहीं करता था अतिथि के सम्मान में विशिष्ट भोजन तैयार किया जाता था ।

"अग्नेरतनूरसि विष्णवेत्वा सोमस्य तनूरसि
विष्णवे त्वातिथेरातिथ्यमसि"[1]

राजा सोम के साथ जितने भी अनुचर छन्द अनुचर बनकर आये थे उन सबका सत्कार राजा सोम की तरह ही हुआ है गायत्री छन्द राजा सोम के भृत्य अग्नि का तुम शरीर हो । हे हवि मै तुम्हें उस व्यापन शील सोम के लिये भूमि पर धरता हूँ । हे त्रिष्टुप छन्द तुम राजा सोम के सेवक सोम के शरीर हो । हे हवि व्यापनशील सोम के लिये मैं तुम्हें भूमि पर धरता हूँ । हे जगती छन्द तुम राजा सोम के भृत्य

1- शुक्लयजुर्वेद - 5.1

के अतिथि सत्कार हो । शतपथ में भी वर्णन है कि अतिथियों के सम्मान में विशिष्ट भोजन तैयार किया जाता था ।[1] अतिथियों को उपहार देना संस्कार का एक नियमित अंग था । छोटों द्वारा बड़ों के प्रति समुचित श्रद्धा की भावना एवं व्यवहार के नियम समाज-व्यवस्था की गरिमामय स्थिति को प्रकट करते है । समाज में चारों वर्णों के व्यक्तियों को पुकारने के लिये भिन्न-भिन्न सम्बोधन नियत थे ।[2] किसी जघन्य अपराध को करना ही मृत्यु है यह भी पुनः पुनः कहा गया है कि ब्रह्म हत्या ही वास्तविक मृत्यु है ।

"मृत्यवेस्वाहा ब्राह्मणे स्वाहा ब्रह्म हत्यायै स्वाहा"[3]

"ब्रह्महत्यायै स्वाहा" कहने का स्पष्ट विवरण शतपथ में मिलता है " जब सब लोकों का मृत्यु और से सम्बन्ध हो गया । इसीलिये यदि मृत्युओं के लिये आहुतियों न दी जायें तो मृत्यु हर लोक में उसके पीछे पड़े । मृत्युओं के लिये आहुति देता है । इस प्रकार हर लोक में मृत्यु को जीत लेता है । इस पर कहते हैं कि यदि उसके लिये स्वाहा उसके लिये स्वाहा कहकर आहुतियाँ दे तो बहुत सी मृत्युओं को अपना शत्रु बना ले और अपने को मृत्युओं के हवाले कर के इसलिये केवल एक आहुति देता है मृत्यु के लिये स्वाहा । क्योंकि मृत्यु एक ही है उस लोक में मृत्यु को जीत लेता है । भूख को भी ब्रह्महत्यायै स्वाहा" से दूसरी आहुति देता है । ब्रह्महत्या से इतर मृत्यु तो अमृत्यु है । ब्रह्महत्या साक्षात मृत्यु है । इस प्रकार मृत्यु को जीत लेता है ।[4] वरुण ग्रन्थि को सत्य प्रतिज्ञा का प्रतीक माना गया है । यज्ञ में पत्नी की कमर रस्सी से बाँधता है । लेकिन गाँठ नहीं बाँधता है

1- शतपथ - 7.3.2.1

2- " - 1.1.4.12

3- शुक्लयजुर्वेद- 39.13

4- शतपथ - 13.3.5.1-2

लेकिन-गाँठ नहीं बाँधता है क्यों कि गाँठ वरुण की होती है गाँठ बाँधने से वरुण पत्नी को पकड़ लेगा ।

अदित्यै रास्नासि ।[1]

अर्थात् हे रज्जु तुम पृथ्वी की बन्धिका रस्सी हो । आज भी गाँठ बाँधना मुहावरे का प्रयोग इसी अर्थ में करते हैं तथा ग्रामीण क्षेत्रों में तो सत्य प्रतिज्ञा के प्रदर्शन हेतु वस्तुतः धारण किये वस्त्र में गाँठ बाँध दी जाती है ताकि प्रतिज्ञा याद रहे । शारीरिक स्वच्छता का भी ध्यान रखा जाता था । नखों तथा दाँतों की सफाई तत्कालीन आर्यों की चर्या का एक नियमित अंग था फिर भी विशेष महत्वपूर्ण अवसरों पर सफाई के आवश्यक आदेश दिए गए हैं ।

"आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन
नो घृतवः पुनन्तु विश्वरहि रिप्रं प्रवहन्ति
देवी रुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ।[2]

स्नान के लिये नदी में प्रवेश करते हुये यजमान माता से स्नेही व शीतल जल हमें शुद्ध करें घृत के समान पवित्र करने वाले जल हमें अपने सार भाग से पवित्र करें । यह द्योतमान जल शरीर के सारे मल और आत्मा के पाप को बहा ले जाते हैं । प्रत्येक सामाजिक अथवा नैतिक अपराध के लिये प्रायश्चित किए जा सकते थे । इसके अतिरिक्त अपराध की स्वीकृति से पाप के कम होने की धारणा भी तत्कालीन लोगों की थी। निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति"
अर्थात् पाप कहा हुआ कम हो जाता है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तत्कालीन आर्यों की जीवन की विविध पक्षों के प्रति सामान्य धारणाएँ अतिवादिता के दृष्टिकोण से परे सहज एवं प्रकृत थीं । विचारों मे दृढ़ता एवं स्पष्टवादिता की झलक प्रत्यक्ष दृष्टिगत है ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 1-30
2- " - 4.2

राजनीतिक जीवन

वैदिक युग में आर्यों का राजनीतिक जीवन स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं है । सांकेतिक सामग्री वैदिक संहिताओं में अवश्य प्राप्त होती है उदाहरणतः वेद में अश्वमेध, राजसूय, सर्वमेध, सोमयज्ञ आदि कुछ ऐसे यज्ञों से सम्बद्ध मन्त्र प्राप्त होते हैं जिनका राजा से सम्बन्ध होता है । इसी प्रकार कुछ उल्लेखों से राजनीति का अप्रत्यक्ष रूप से बोध होने से भी सहायता मिलती है जैसे सरमा-पणि संवाद दूत-व्यवस्था पर प्रकाश डालता है । युद्ध के वर्णनों में भी वैदिक सेना, सभा, समिति आदि संस्थाओं का स्पष्टीकरण होता है । यह तो सुविदित है कि वैदिक संहिताओ में प्रत्येक विषय का निरूपण "देव" पद के अन्तर्गत ही हुआ है । अतः वैदिक आर्यों द्वारा अपने आराध्य को स्थान-स्थान पर राजा एवं सम्राट आदि कहने से उनकी राष्ट्र सम्बन्धी भावना का अनुमान लगाया जा सकता है ।

राज्य एवं राष्ट्र -

समाज तथा राज्य का अभिन्न सम्बन्ध है । समाज तथा सामाजिक व्यवस्था हेतु ही राज्य की परिकल्पना अस्तित्व में आयी । अपरिमित समृद्धि से युक्त राज्य को राष्ट्र संज्ञा प्रदान कर शतपथ ने देश अथवा राज्य के लिये राष्ट्र शब्द का गौरवयुक्त प्रयोग किया है -

अपरिमित समृद्धम् वै राष्ट्रम्[1]

1- शतपथ 12. 8. 3. 6

शुक्ल यजुर्वेद में भी राष्ट्र प्राप्त करने की कामना की गयी है -

वृष्ण उर्मिरसि राष्ट्र दा राष्ट्रं मे देहि

अर्थात् किसी मनुष्य के नदी में प्रवेश करने पर जो लहरियाँ उठे उन्हें ग्रहण करना है । हे लहर तुम सेचन समर्थ की लहरी हो तुम राष्ट्र को देने वाली हो हमें भी राष्ट्र प्रदान करो । उव्वट महीधर ने अपने भाष्य में राष्ट्र का अर्थ "जनपद" किया है । अथर्ववेद में भी पृथ्वी से यही निवेदन किया गया है कि "वह राष्ट्र को बल तथा दीप्ति दे"[1] ।

राजा -

शुक्लयजुर्वेद में राजतन्त्र व्यवस्था का पूर्ण विकसित स्वरूप दृष्टिगत है । राज्य अथवा राष्ट्र में राजा की स्थिति अनिवार्य थी यद्यपि निर्वाचन पद्धति के ज्ञान का अभाव विद्यमान है । शतपथ में एक स्थान पर अवश्य किंचित संकेत मिलता है जहाँ कहा गया है -

"यस्मै वे राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति । न सः यस्मै न"[2]

अर्थात् जिन राजाओं का अभिषेक हो जाता है वही राजा जिसको राजा बनाते है वही राजा होता है वह नहीं जिनको ये राजा अनुमति नहीं देते । यहाँ स्पष्ट ही अन्य राजाओं द्वारा निर्वाचन का प्रमाण प्रस्तुत है । किसी राजनैतिक संस्था {सभा} के सदस्यों की अनुमति भी सम्भवतः राजा के निर्वाचन को पुष्ट करती थी । राजा के चुनाव की परम्परा का समर्थन ऋग्वेद तथा अथर्ववेद[3] भी

1- शुक्लयजुर्वेद 10. 2

2- शतपथ 9. 3. 45

3- अथर्ववेद 6. 87

करते हैं किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के एक उपाख्यान में निर्वाचन का कारण भी प्रस्तुत किया गया है- "असुरों ने देवों को हरा दिया देवों ने सोचा कि असुरों के हाथों हमारी पराजय का कारण हमारा राजा विहीन होना है। अतः उन्होंने अपने में से बलिष्ठ एवं ओजिष्ठ इन्द्र को अपना राजा निर्वाचित किया"[1]। शुक्ल यजुर्वेद में भी इन्द्र को आर्यों का नेता या राजा कहा गया है -

इन्द्रश्च सम्राट्वरुणश्च राजा[2]

इन्द्र सम्राट वरुण राजा है। शतपथ में राजा के राज्य बहिष्कृत किये जाने तथा लुप्त ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये पुनः यत्न करने का वर्णन किया गया है[3]। शुक्ल यजुर्वेद में राजा के लिये गण गणपति, स्वराट्, विराट राजा प्रभृति शब्द का उल्लेख मिलता है।

<u>योग्यता</u> -

शुक्लयजुर्वेद में इन्द्र को आर्यों का नेता कहा गया है -

"इन्द्र आसां नेता"

नेता वही होना चाहिये जिसमें नेतृत्व के गुण हो। जो मनुष्यों को संगठित करके रख सके उनके जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करके उनकी प्रगति में सहायक हो। वैदिक आर्यों के राजा में नेतृत्व का गुण होता था वह शत्रुओं के दमन के लिये नियुक्त किया जाता था। शुक्लयजुर्वेद में कहा गया है कि इन्द्र तुझे राक्षसों के

1- शतपथ ब्राह्मण

2- शुक्लयजुर्वेद

3- शुक्लयजुर्वेद 17.40

बध के लिये राजा नियुक्त करता हूँ। अतः निश्चय ही राजा को वीर होना चाहिये। ऐसे वीर राजा का वर्णन भी है -

"आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम।

संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शत सेना अजेयेत्साकमिन्द्रः"[1]

शीघ्रकारी, तीक्ष्ण तेजस्वी, भयंकर, वृषभ के समान घमासान मचा देने वाला, समरभूमि में वीरों को विचलित कर देने वाला, शत्रु सेना में हाहाकार मचा देने वाला नित्य पराक्रमशील, ऐश्वर्यशाली, वीर राजा अकेला सैकड़ो सैनिको पर विजय प्राप्त कर सकता है। अन्य देवों में भी वैदिक आर्यों ने शत्रुनाश के लिये वीरता का गुण देखा अतः स्पष्ट है कि वे अपने राजा में भी अपूर्व वीरता शक्तिमत्ता का गुण देखना चाहते थे ऋग्वेद में एक स्थान पर क्षत्रिय को और एक अन्य स्थान पर राजा वरुण को धृतव्रत कहा गया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि व्रतों को धारण करना राजा का गुण माना गया होगा और उसी को राजा नियुक्त किया जाता होगा जो जनसमूह के समक्ष व्रतों अर्थात् कर्मों या नियमों को जो राजपद के लिये आवश्यक हो पालन करने की प्रतिज्ञा करता होगा-

"निषसाद धृत व्रतो वरुणः पस्त्यास्वा साम्राज्याय सुक्रतुः"[2]

अर्थात् यज्ञरूपी कर्म को स्वीकार करने वाला अनिष्टं को निवारण तथा शुभ संकल्प वाला यह यजमान इन प्रजाओं में ही वरणीय होकर स्थित हुआ है यह यजमान इस आसन्दी पर सार्वभौम साम्राज्य के लिये ही स्थित हुआ है। वेदों में एक स्थान पर

1- शुक्लयजुर्वेद - 17-33

2- शुक्लयजुर्वेद - 10. 27

यज्ञ द्वारा प्रस्तावित राजा को पंचदेवयुक्त बनाने की प्रक्रिया का उल्लेख है -

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां[1]

राजसूय यज्ञ में पाँच पासे अध्वर्यु यजमान के हाथ में देवे ह सर्वविजयकारी "कलि" अक्ष और उस विजयी "कलि" अक्ष वाले यजमान तुम सर्वत्र व्याप्त हो । पाँच कौड़ियो से आलक्षित यह पाँचों दिशाएँ तुम्हारे प्रयोजन को सिद्ध करने वाली होंवे । इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर दसदेवयुक्त बनाने की प्रक्रिया का विधान किया गया है -

सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मै बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणे नौजसाग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि ।[2]

अर्थात अभ्यनुज्ञाकारी सूर्य, वाणीरूपा सरस्वती रूपों से उपलक्षित त्वष्टादेव, पशुओं से संगत पूषा देव इस प्रत्यक्ष द्रष्टा इन्द्र, देवयाग के ब्रह्मा बृहस्पति, ओजस्वी वरुण तेजस्वी अग्नि, राजा सोम और दशवें यज्ञदेवता विष्णु के द्वारा आदेश प्राप्त मैं गमन करता हूँ । इस प्रकार के उल्लेखों से वैदिक युग की उस धारणा का भान होता है जिसके अनुसार राजा में दैवी गुण लाने के लिये मंत्रो द्वारा देवत्व की स्थापना की जाती थी । इसलिये यह कहा गया है कि राजा इन्द्र सोम वरुण मित्र यम सूर्य आदि देवों का अंश धारण करता है ।[3] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि राजा में प्रशासनिक क्षमता के साथ-साथ देव सम्बन्धी तेजस्विता दान आदि के गुण होने चाहिये जिससे कि वह अपने अधीन रहने वाले प्राणियों को दान कर्मशीलता तेजस्विता के द्वारा

1- शुक्लयजुर्वेद 10. 28

2- शुक्लयजुर्वेद- 10. 30

3- अथर्ववेद- 10. 5. 7-14

अवृत हिंसा आदि कर्मणों को दूर करके सतत सत्य अहिंसा सदाचार के मार्ग पर ले जाने में सक्षम हो ।

राज्याभिषेक -

राजा के अभिषेक का सर्वाधिक विस्तृत विवरण यजुर्वेद के राजसूय यज्ञ में ही उपलब्ध होता राजसूय ही सामान्यतः राज्याभिषेक का प्रतीक था जैसा कि शतपथ में स्वयं कहा गया है -

"राज्ञ एव राजसूयम् । राजा वै राजसूये नेष्ट्वा भवति"[1]

शतपथ के अनुसार भारतीय आर्यों का सबसे प्रथम अभिषिक्त राजा पृथुवैन्य था जिसका ऋग्वेद में भी एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में उल्लेख मिलता है - लोक में क्षत्रिय का ही अभिषेक हो सकता था क्यों कि सर्वसाधारण अनभिषेचनीय थे । मैत्रावरुण वेदी के समक्ष एक व्याघ्रचर्म पर निर्वाचित राजा उपस्थित होता था क्रमशः चार व्यक्ति ब्राह्मण, राजा का स्वजन राजन्य एवं वैश्य अभिषेक करते थे । अभिसिंचन हेतु सरस्वती नदी समुद्र एवं अन्य प्रादेशिक जलागारो से सत्रह प्रकार का जल विशेष रूप से एकत्रित किया जाता था । जल ग्रहण करते समय निम्न के मन्त्र बोले जाते थे-

"स्वराजस्थ राष्ट्र दा राष्ट्रममुष्मैदत्त"[2]

अर्थात् हे जलो तुम स्वराज अर्थात् स्वयं चमकने वाले राष्ट्र देने वाले हो राष्ट्र को अमुक पुरुष को दो -

वृष सेनोऽसि राष्ट्र दा राष्ट्रमुष्मै देहि"[3]

हे लहर तुम सेचन समर्थ की लहरी हो तुम राष्ट्र को देने वाली हो हमें भी राष्ट्र

1- शतपथ 5. 2. 3

2- शुक्लयजुर्वेद - 10. 2

3- शुक्लयजुर्वेद - 10. 4

प्रदान करो इत्यादि मन्त्र बोलने के उपरान्त यजमान तार्प्य आदि वस्त्र मन्त्र पढ़कर धारण करता है -

"क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जरायवसि क्षत्रस्य योनिरसि"[1]

हे रेशम वस्त्र तार्प्य तुम यजमान को धारण करने वाली गर्भवेष्टनी हो । हे पाण्डुवस्त्र तुम उस गर्भस्थ यजमान को ढकने वाला चर्म हो हे कंचुक रूप अधिवास तुम उस यजमान को गर्भ में धारण करने वाली योनि हो । अभिषेक के पश्चात् एक मंत्र द्वारा राजा के लिये प्रतीकात्मक घोषणा की जाती थी जो उसके अभिषेक के समर्थन की सूचक होती थी - आविमर्या आवित्तो अग्निगृहपति"[2]

हे मनुष्यों यह यजमान सबके सम्मुख लाया गया । गृह के स्वामी अग्नि के सम्मुख यह यजमान प्रकट किया गया प्रवृद्ध या चिरन्तन-यश इन्द्र के सम्मुख यह यजमान प्रकट किया गया देवानुशासन को धारण करने वाले मित्र-वरुण के समक्ष यह यजमान प्रकट किया । विश्वधन को प्राप्त करने वाले पूषा के सम्मुख यह यजमान प्रकट किया गया। संसार भर का कल्याण करने वाली द्यावापृथिवी के समक्ष यह यजमान प्रकट किया गया विस्तृत सुख वाली अदिति के सम्मुख यह यजमान प्रकट किया गया । इसके उपरान्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण क्रिया का विधान शतपथ में मिलता है - अध्वर्यु तथा उसके सहायक पुरोहित राजा की पीठ पर प्रतीकात्मक दण्ड स्पर्श कराते थे -

"अथैनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति"[3]

निष्कर्षतः राजा दण्ड या बधा से अतीत मान लिया जाता था । मनुस्मृति राजा को दण्डय घोषित करती है । इस क्रिया का कारण कुछ भी रहा हो किन्तु यह स्पष्ट है कि राजा को निरंकुश होने की अनुमति प्रदान नहीं की जाती थी । अभिषेक के

1- शुक्लयजुर्वेद - 10.8

2- शुक्लयजुर्वेद - 10.9

3- शतपथ - 5-4-4 7

उपरान्त राजा महान् एवं शक्तिशाली बन जाता था ।

राजा के कर्तव्य -

राजा के राजपद पर आसीन होने के उपरान्त उसके अपनी प्रजा के प्रति कर्तव्य होते थे जिनके लिये उसे राजा बनाया जाता था । वेदों में राजा "धृतव्रत" अर्थात् व्रतों को धारण करने वाला कहा गया है । व्रत से वेद का तात्पर्य कर्तव्यों से है[1] अभिषेक के उपरान्त राजा शक्तिशाली बन जाता था किन्तु शक्तिशाली होते हुये भी वह पृथिवी (प्रजा) से निवेदन करता है -

पृथिवी मातर्मा हिं सीर्मोऽअहं त्वाम्[1]

पृथिवी तू मेरी माता है न तू मेरी हिंसा कर न मैं तेरी हिंसा करूँ । विश्व में विश्रृंखलित शक्ति को केन्द्रीभूत करने के लिये ही राजा का अभिषेक होता था । अभिषेक के द्वारा राजा का महान हो जाना एवं पृथिवी का उससे भय खाना इसी केन्द्रीभूत शक्ति का परिचायक है । अतः राज्य की सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्र राजा को ही माना गया है ।

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि"[2]

अर्थात् हे आसन्दी तुम क्षत्रिय की योनि हो क्षत्रिय की नाभि हो । राजा का पद राष्ट्र के कल्याण के लिये ही सौंपा जाता था । राजसूय के अवसर पर जब राजा प्रथम बार सिंहासन पर आसीन होता था तो पुरोहित उससे यह कहता था -

"इयं ते राट यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा"[3]

1- शुक्लयजुर्वेद - 10.23

2- शुक्लयजुर्वेद - 20.1

3- शुक्लयजुर्वेद - 9.22

अर्थात् तुम्हें यह राष्ट्र सौंपा जाता है । तुम इसके नियामक हो । ध्रुव धारण कर्ता हो कृषि कर्म के लिये कल्याण के लिये समृद्धि के लिये तथा पोषण के लिये तुम्हें यह राज्य सौंपा जाता है । इस प्रकार सामान्यतः राजा पुरातन नियमों तथा सामाजिक परम्पराओं के विरुद्ध आचरण नहीं करता था । राजसूय-यज्ञ के अभिषेक प्रसंग के अन्त में धर्मपति वरुण की आहुति दी जाती थी तथा राजा को सतत(नियम) की रक्षा से सम्बन्धित कर्तव्य का महत्त्व समझाया जाता था । आसंदी पर राजा के आरोहण के समय राष्ट्र के चार अंगो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) को आमंत्रित किया जाता था कि वे राजा की रक्षा करें । पुनः पुरोहित राजा की घोषणा करता था । "हे जनता अमुक व्यक्ति तुम्हारा राजा है । हम ब्राह्मणों के राजा तो सोम हैं -

"अमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" [1]

ब्राह्मणों द्वारा लौकिक राजा के स्थान पर सोम को अपना राजा मानने के पीछे यही भावना कार्यरत प्रतीत होती है कि वे स्वयं को राज-संस्था के अधीन रखने की अपेक्षा उसके नियामक बने रहना चाहते थे । राजा को अपनी प्रजा की हिंसा नहीं करनी चाहिये ।

"माहि र्भूर्मा पृदाकुः" [2]

हे राजन् तू सर्प (सर्प के समान क्रूर) मत बन । न ही व्याघ्र (निर्दयी हिंसक) बन स्पष्ट है कि यहाँ हिंसा से पृथक अहिंसा का उपदेश है । सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं में राजा का प्रजा के प्रति कर्तव्यपरायण होना स्पष्ट किया गया है । उसे उसी प्रकार का व्यवहार अपनी प्रजा से करने को कहा

1- शुक्लयजुर्वेद - 9.40

2- शुक्लयजुर्वेद - 8.23

गया है जैसे माता अपने शिशु के प्रति करती है ।

प्रजा के कर्तव्य राजा के प्रति -

प्रजा जिस व्यक्ति को अपना राजा चुनती है और जो उसके सुख कल्याण आदि का ध्यान रखकर, प्रजा को सुख पहुँचाता है । अभय देता है। उसका स्वामित्व उसका आधिपत्य सभी प्रजाजनो को स्वीकार होना चाहिये । प्रजा के लिये वेद में विश् शब्द प्रयुक्त हुआ है[1] । राज्याभिषेक के अवसर पर पुरोहित ब्राह्मण घोषणा करता है कि ब्राह्मणों का राजा तो सोम है इससे स्पष्ट है कि राजा का आधिपत्य ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य क्षत्रिय वैश्यों तथा शूद्रों पर ही रहता था । अथर्ववेद में इस बात की पुष्टि है कि "इस पृथिवी का पति एकमात्र ब्राह्मण है । क्षत्रिय तथा वैश्य इसका अधिकारी अथवा स्वामी नहीं है"[2] परन्तु ब्राह्मण ने अपना अधिकार क्षत्रिय को दे दिया क्यों कि वह यज्ञ उपासना पठन-पाठन आदि में व्यस्त रहता था । इस प्रकार स्पष्ट होता है कि क्षत्रिय राजपद का अधिकारी अवश्य होता था परन्तु ब्राह्मणों के ऊपर आधिपत्य करने का अधिकार उसे नहीं था वरन् ब्राह्मणों द्वारा ही उसे यह अधिकार दिया गया था । प्रजा का अपने राजा के प्रति कर्तव्य होता था कि वह उसका पूर्ण सम्मान करे उसके विरुद्ध आचरण न करे । अभिषेक के अवसर पर राजा को धनुष देते समय राजा की रक्षा के लिये प्रार्थना की गयी है -

"पातैनं प्रान्चं पातैनं प्रत्यन्चं
पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात"[3]

1- शुक्लयजुर्वेद -

2- अथर्ववेद - 5. 1. 9

3- शुक्लयजुर्वेद- 10. 8

हे बाण तुम इस यजमान को पूर्व दिशा में पालन करो हे बाण तुम इसे पश्चिम दिशा में पालन करो । हे बाण तुम इस यजमान को जहाँ से बचाओ हे बाण तुम इस यजमान को सभी दिशाओं में बचाओ प्रजा का अपने राजा के प्रति कर्तव्य होता है कि वह उसका पूर्ण सम्मान करें । राजा के कर्तव्यपालन में उसका सहयोग करे । एक अन्य मन्त्र में उल्लेख है कि-

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि[1]

हे राजन तू क्षत्र का आधार है तू क्षत्र का केन्द्रस्थान है। इसलिये किसी व्यक्ति को तेरी हिंसा नहीं करनी चाहिये । इस मन्त्र से वेद की यह धारणा स्पष्ट होती है कि राज्य में रहने वाले व्यक्तियों को अपने राजा से द्रोह नहीं करना चाहिये और न ही उसकी हिंसा करनी चाहिये । प्रजाजन राष्ट्र की सम्पन्नता के लिये प्रयत्न करते थे ।

"तेनास्मान् ब्राह्मणस्पतेऽभिराष्ट्रायवर्धयं हे ब्राह्मणस्पते"[2]

हम लोगों को राष्ट्रहित के लिये समृद्ध करो । इस प्रकार वेद राजा और प्रजा में परस्पर सौमनस्य के व्यवहार का उपदेश देता है तथा अपने-अपने कतव्यों का यथोचित रूप में पालन करने का निर्देश देता है । दोनों में से किसी को भी एक दूसरे के प्रति द्रोह नहीं करना चाहिये । एक स्थान पर प्रार्थना है कि -

"पृथिविमातर्मा मा हिंसीर्मो अहं त्वाम्"[3]

हे मातृभूमि तू मेरी हिंसा मत कर और मै भी तेरी हिंसा न करूँ । इससे भी यही संकेत प्राप्त होता है कि राजा प्रजा को और प्रजा राजा से द्वेष न करे ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 20. 1

2- ऋग्वेद - 10. 174. 1

3- शुक्लयजुर्वेद - 10 23

राजा की विविध उपाधि -

राजा जब किसी महान् कार्य को कर लेता था तो "महाराज" उपाधि से विभूषित किया जाता था यथा वृत्र को मारने के उपरान्त इन्द्र महेन्द्र बन गया ।[1] राजा के लिये सम्राट शब्द का प्रयोग भी मिलता है। राजसूय यज्ञ करने वाला राजा होता था । वाजपेय यज्ञ करने वाला सम्राट होता था ।

"इन्द्रश्च सम्राट वरुणश्च राजा"[2]

एक राजा के लिये क्षत्रपति उपाधि का भी प्रयोग हुआ है ।

"इन्द्रस्येन्द्रियेण क्षत्राणां क्षत्रपतिरेधि ।[3]

अर्थात् वीर्य से तू क्षत्रों का क्षत्रपति हो अर्थात् राजाओं का अधिराज ।

राजन्य -

शुक्लयजुर्वेद में अनेक बार राजन्य तथा, राजन्य बंधु पदों की आवृत्ति हुयी है । जहाँ इनका सम्बन्ध राजा से न होकर क्षत्रिय जाति से है । संभवतः वे क्षत्रिय जिनका भूतकाल की पीढ़ियों में राजाओं से रक्तसम्बन्ध रहा हो राजन्य क्षत्रिय कहलाते रहे होंगें ।

रानियाँ -

राजा की चार रानियाँ होती थी ये रानियाँ क्रमशः महिषी, वावाता, परिवृक्ता, पालागली विशेषणों द्वारा अभिहित की गई थीं ।

1- शतपथ - 2. 5. 4. 9

2- शुक्लयजुर्वेद

3- शुक्लयजुर्वेद - 10. 17

महिषी -

राजा की महान् इच्छिता तथा प्रथम परिणीता रानी महिषी कहलाती थी जिसकी महिमा के कारण उसे पृथिवी के समकक्ष स्थान दिया गया ।

बावाता -

राजा की प्रिय रानी बावाता थी जो उसकी वास्तविक वल्लभा थी । यह्न महिषी राजनैतिक विवाह के प्रतीक थी जिसे सम्मान मिलना तो आवश्यक था किन्तु प्रेम की पात्र उसकी चयन की गई रानी वावाता ही होती थी।

परिवृक्ता -

परिवृक्ता राजा की प्रिय पत्नी नही थी । ऐसा प्रतीत होता है कि इसे संतान उत्पन्न करने के अयोग्य बना दिया जाता था क्यों कि इसे "अपुत्रा" तथा निर्ऋति गृहीता" भी कहा गयाहै ।

"एष ते निर्ऋति भागस्त जुषस्व स्वाहा"[1]

हे निर्ऋति यह तेरा भाग है तू ग्रहण कर पुत्र हीना पत्नी निर्ऋत-गृहीत(आपत्ति-ग्रसित) होती है ।

पालागली -

राजा की चतुर्थपत्नी "पालागली कहलाती थी जो दत्तपुत्री कही गई है इसे जाया भी कहा गया है ।

शत्रु -

प्रत्येक राष्ट्र में सब प्रकार के लोग होते हैं कुछ सदाचारी कुछ दुराचारी । सदाचारी पुरुष तो अपने सद्गुणों द्वारा राष्ट्र को प्रगतिशील बनोत हैं

1- शतपथ ब्राह्मण 5 3 1 13

परन्तु दुराचारी मनुष्य तो राष्ट्र को प्रगति में बाधक होते हैं । शत्रु दो प्रकार के होते हैं ।

आभ्यन्तर शत्रु -

चोर हिंसक व्यभिचारी द्यूत व्यवसनी पापाचारी आदि व्यक्ति राज्य के आभ्यन्तर शत्रु हैं ऐसे व्यक्ति दूसरों के जीवन सम्पत्ति स्वतंत्रता मर्यादा प्रतिष्ठा आदि पर आघात करके राज्य की सुख शान्ति प्रतिष्ठा भंग करते हैं शु0 मे ऐसे शत्रुओं का कई स्थान पर वर्णन आया है ।

"ये जनेषु मलिम्लवः स्तेनारस्करा वने"

ये कक्षेष्वघायवस्तॉस्ते दधामि जम्भयोः ।[1]

अर्थात् जो ग्रामादि में प्रवेश करके लोगों को मारने काटने एवं बन्दी करके लोगों को बनाने वाले हैं वनों में जो लुटेरे बसते हैं लता में छिपकर घात करने वाले जो पाप-कामी हैं उन सबको हे अग्ने मैं तुम्हारी दाढ़ो मे रखता हूँ ।

वाह्य शत्रु -

प्रायः सभी राज्य अपने पड़ोसी राज्य को जीतकर उसकी भूमि हथियाने और उस पर अपना आधिपत्य करने का प्रयत्न करते हैं ऐसा विचार रखने वालो को वाह्य शत्रु कहते हैं ।

"याः सेना अभित्वरी व्याधिनोरुगणा उत्"[2]

जो शत्रु सेनाएँ प्रत्याक्रमण निरता है जो अपने अस्त्र-शस्त्र से हमारे शरीरो को सम्यक् बेध देने वाली हैं और जो शत्रु सेनाएँ बड़े-बड़े बलशाली सेनानायकों से युक्त हैं।

1- शुक्लयजुर्वेद - 11.79

2- " "

इन दोनों बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं पर विजय पाकर ही किसी राज्य को सुख शान्ति स्थायी हो सकती है ।

सेना -

सेना का संचालन सेनापति करता था । सेना टुकडियों मे विभाजित होती थी जिनमे भिन्न-भिन्न शस्त्रों के संचालन में विशेष योग्यता प्राप्त सैनिकों का अपना स्थान निश्चित होता था शत्रु को पराजित करने के लिये सेना अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होनी चाहिये ।

"आशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च ।[1]

शीघ्र गतिवाले सेना को नमस्कार है शीघ्र रथी को नमस्कार है । शूर को नमस्कार है और शत्रुओं को भेदित करने वाले को नमस्कार है ।

रथ सेना -

सेना में रथों का प्रयोग बहुलता से होता था । सारथि तथा सैनिक दोनों को रथिन कहा गया है -

"रथीतम् रथीनाम्"[2]

(रथ पर चढ़कर लड़ने वालों में अत्यंत वीर) रथ में चार अश्व जुड़ते थे तथा सत्य एवं दक्षिण भाग में भी दो सारथि बैठते थे । एक स्थल पर इन्द्र से अपने रथ सेना के रक्षा की कामना की गयी है ।

"बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः
प्रभञ्जन्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम्"।[3]

1- शुक्लयजुर्वेद - 16.32

2- " - 15.61

3- " - 17.36

हे बृहस्पते तुम अपने रथ के द्वारा सर्वत्र संचार करो राक्षसों के नाशक, शत्रुओं के बाधक शत्रु सेनाओं को भंग करने वाले संहार करने वाले और युद्ध के द्वारा शत्रु को पराजित करने वाले हे इन्द्र तुम हमारे रथों के रक्षक होओ । रथ के वीर योद्धाओं को "महारथ"[1] विशेषण से भूषित किया जाता था ।

अश्वारोही सेना -

रथिन के अतिरिक्त अश्वारोही सैनिकों का भी उल्लेख मिलता है । ये वीर सैनिक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में विशिष्ट स्थान रखते थे । अचूक निशानेबाज को "अतिव्याधि कहा गया है तथा धनुर्विद्या में प्रवीण सैनिक को शूरइषव्य ।[2]

पदाति सेना -

ये वीर सैनिक अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में विशिष्ट स्थान रखते थे । पदाति सेना का रुद्र अधिपति था ।

"उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनाम पतये नमः"[3]

तुमुलध्वनिकारी आक्रन्दन करने वाले तथा पदाति सेना के नायक रुद्र के लिये हमारा नमस्कार है । युद्ध में ही नही अश्वमेध के लिये छोड़े गये अश्व के पीछे भी सैकड़ों कवचधारी सैनिकों के चलने का उल्लेख मिलता है । उपर्युक्त तीनों प्रकार के वीर सैनिक मिलकर ही वैदिक कालीन युद्ध करते थे ।

वैदिक अस्त्र-शस्त्र -

धनुष -

वैदिक भारतीयों का प्रमुख अस्त्र धनुष ही प्रतीत होता है जिसका इषव्य आधिज्य धन्व धनुश आदि पर्यायों के रूप में प्रचुर उल्लेख मिलता है ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 22.22

2- " - 16.19

प्रमुन्च्च धन्वनस्त्वमुभयोरात्न्योर्ज्याम्

याश्च ते हस्त इषवः पराता भगवो वपः"[1]

रूद्र तुम धनुष की दोनों कोटियों से प्रत्यन्चा को पृथक करो और तुम्हारे हाथ में जो बाण आ गये हैं हे भगवन् रूद्र तुम उन्हें कहीं अन्यत्र ही फेंक दो । रूद्र के धनुष का नाम पिनाक था रूद्र के धनुष को नमस्कार करते हुये प्रार्थना की गयी है ।

"उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तवधन्वने[2]

तुम्हारी दोनों बाहुओं को नमस्कार है । तुम्हारे धनुष के लिये भी नमस्कार है। धनुर्विधा में प्रवीण सैनिकों को शूरऽइषव्य कहा गया है ।

"आराष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्यो अतिव्याधि महारथो जायताम् ।[3]

हे ब्रह्मन् हमारे राष्ट्र में क्षत्रिय शूर लक्ष्यवेधी धनुष बाणधारी तथा महारथी उत्पन्न होवें ।

वाण -

बाण तीन प्रकार के होते थे । राजा के अभिषेक के तुरन्त बाद अध्वर्यु राजा को धनुष और ये तीन बाण प्रदान करता है ।

दृवासि रुजासि क्षुमासि पातैन प्रोन्च्च[4]

प्रथम बाणतुम शत्रु को विदीर्ण करने वाले हो हे द्वितीय बाण तुम शत्रु को भेदन करने वाले हो हे तृतीय बाण तुम शत्रु को कम्पित करने वाले हो । दृजा वह पृथिवी है रुजा वह अन्तरिक्ष है क्षुमावह है द्यौ है इस प्रकार यह तीनों बाण है ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 16.8

2- " - 16.14

3- " - 22.22

4- " - 10.8

तूणीर -

तूणीर में ही योद्धा अपने बाण रखता है यह योद्धा के पीठ पर बँधा रहता है । श0 में तूणीर का उल्लेख मिलता है ।

बह्वीनाम पिता बहुरस्यपुत्रचिश्चाकृणोति समनापमत्य
इषुधिः संकाः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निवद्धोः जयतिप्रसूतः।[1]

अर्थात् अने कशरों का रक्षक और अनेक बाण इसके पुत्रस्थानीय है । युद्ध मे प्राप्त होकर यह तूणीर चिश्चा ध्वनि को करता है यह तूणीर पृष्ठ भाग में ठीक से बंधा हुआ सम्पूर्ण गुथी हुई सेनाओं को विजय करता है ।

हेति -

हेति भी वैदिक युग का विशेष अस्त्र था । यजुर्वेद हेति वज्र के समान घातक हथियार था यजुर्वेद के एक मन्त्र में हेति को धनुष के साथ संयुक्त किया गया है - या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः "[2]
हे अत्यंत संचन समर्थ रूद्र तुम्हारे हाथ में जो आयुध है और जो धनुष है। इससे ज्ञात आयुध है और जो धनुष है । इससे ज्ञात होता है कि हेति बाण के समान धनुष से फेंका जाता है । उव्वट ने हेति की व्याख्या स्पष्ट रूप से आयुध ही की है ।

कवच -

युद्ध के आक्रमणात्मक साधनों के अतिरिक्त रक्षात्मक कवच आदि के प्रयोग का उल्लेख प्राप्त है । यह कवच उरस्त्राण या वक्षस्त्राण ही हो सकता है । शुक्लयजुर्वेद में इसका वर्णन मिलता है -

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजाऽमृतेनानुवस्ताम् ।[3]

1- शुक्लयजुर्वेद - 29.42

2- " - 16.11

3- " - 17.49

हे वीर तुम्हारी मर्मस्थानों को मैं कवच से प्रच्छन्न करता हूँ राजा सोम तुम्हें अमृत, में बसा दे । अश्व के पीछे भी सैकडों कवचधारी सैनिकों के चलने का उल्लेख मिलता है ।

पाश -

वरुण सम्राट तथा स्वराट् की उपाधि से विभूषित है तथा उन्हें क्षत्रिय नाम से अभिहित किया गया है । वरुण मानवों के नैतिक आचरण का द्रष्टा है तथा उन्हे उनके पापों के लिये दण्डित करता है तथा जो उनके व्रत का उल्लंघन करते हैं उन्हें अपने पाशों से बाँधता है । समिष्टयजु होम के समय स्नान के लिये जल में प्रवेश करते हुये अध्वर्यु यजमान से कहलवाता है -

"नमो वरुणायाधिष्ठितो वरुणस्य पाशः"[1]

वरुण देव को नमस्कार है । वरुणदेव का पाश फैलाया जा चुका है । (अतः उससे हमारी रक्षा करो)

असि -

संभवतः यह लोहे के चाकू के समान ही कोई धारदार हथियार होता था जिससे कसाई अश्वमेध अश्व के घोड़े को काटता था ।

"मा ते गृध्नुरविशस्तातिहाय छिद्रा
गात्राण्यसिना मिथू कः" ।[2]

यह लालची व अकुशल कसाई भी शास्त्र सम्मत क्रम को छोड़कर तलवार से जहां तहाँ से काटकर व्यर्थ न कर दे ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 8.23

2- " - 25.43

पवि -

शुक्लयजुर्वेद में पवि नामक आयुध का उल्लेख प्राप्त होता है-

"सुकतंशाय पविमिन्द्र तिग्मं

विशत्रून ताढ़ि वि मृधो नुदस्व"[1]

हे इन्द्र तुम अपने सुक को तीक्ष्ण करों और तीखे बज्र को भी हे इन्द्र शत्रुओं ताडित करो और हिंसकों को भी पीछे भगादो ।

शल्य -

इस शस्त्र का अग्रभाग अत्यधिक भेदक होता था इसका वर्णन मिलता है । "निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमनाभव"[2]

अर्थात् हे रूद्र तुम अपने बाणों के अग्रशल्यों को दूर करके हमारे प्रति कृपालु होवें ।

प्रहेति -

शुक्लयजुर्वेद के एक मन्त्र में महीधर ने अपने भाष्य में प्रहेति को "प्रकृष्टमायुधम्"[3] कहा है इसके स्वरूप के विषय में इससे अधिक कुछ जानकारी नही मिलती है ।

अंगरक्षक आयुध -

युद्ध में अस्त्र-शस्त्रों से योद्धा के शरीर की रक्षा के लिये रक्षायुध का निर्माण वैदिक युग में हुआ । सामान्यतः अंगरक्षक आयुध निम्न है -

शिप्र -

सिर की रक्षा के लिये शिरस्त्राण अत्यंत उपयोगी होता था । उसी शिरस्त्राण का शिप्र रूप में शु० में वर्णन है -

---

1- शुक्ल० - 18.71

2- " - 16.13

"नमो बिल्मिने च कवचिने च"[1]

शिरस्त्राणयुक्त को नमस्कार है तथा कवचधारी को नमस्कार है ।

वर्म कवच -

सिर से नीचे शरीर की रक्षा के लिये वर्मकवच का प्रयोग होता था । शु० के एक मन्त्र में -

"कवचिने च नमो वर्मिणे च"[2]

अर्थात् कवचधारी को नमस्कार है । शरीर रक्षक वर्मधारी को नमस्कार है । इस प्रकार शु० में कवच और वर्म का अलग-अलग उल्लेख है इससे प्रतीत होता है कि ये दो अलग-अलग आयुध थे ।

वैदिक युद्ध -

राजा के बल प्रदर्शन के लिये किया गया कार्य युद्ध कहलाता है ।

युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यं[3]

क्षत्रिय का पराक्रम युद्ध है रणस्थल में वीर पुरुष अपने वीरता और रणकौशल का प्रदर्शन करते थे शतपथ में युद्ध के लिये "संग्राम" शब्द के अतिरिक्त "संघात" शब्द भी मिलता है । ऋग्वेद में रोमान्चकारी युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है । आर्य राजा इन्द्र ने दस्यु राजा शम्बर के सौ नगरों को युद्ध में नष्ट किया । इसी प्रकार शु० में भी युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है ।

आशुः शिशानो वृषभो नभीमोधनाननःशोभनचर्षणीत्

संक्रन्दनोऽनिमिषः एकवीरःशतसेना अजयत्साकमिन्द्र"[4]

1- शुक्ल० - 16.35

2- शुक्ल० -

3- शतपथ - 13.1.5.6

4- शुक्ल० - 17.33

शीघ्रगामी, स्ववज्र को तीक्ष्ण करता हुआ सांड के समान भयंकर, शत्रुओं को मारने वाला शत्रु प्रजाओं को संक्षुब्ध करने वाला निनाद करने वाला पलक न मारने वाला तथा अत्यंत वीर वह इन्द्र अकेले ही शत्रु की सैकड़ों सेनाओं को जीत लेता है । इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में रोमान्चकारी युद्ध होते थे । राजन्य बंधु रथ में बैठकर शरसंधान करते हैं ।

"रथेन च शरेण च राजन्यबान्धव"[1]

रथ और शर से क्षत्रिय युद्ध करते थे इन युद्धों में धन और जन की हानि होती थी ।

योद्धा की वेशभूषा -

वैदिक वाङ्मय में सैनिकों की वेशभूषा का समुचित उल्लेख प्राप्त होता है । वैदिक योद्धा सिर पर उष्णीष धारण करते थे । सैनिक वेशभूषा में मरुतदेव का वर्णन है -

"नमो निषङ्गिषा: इषुधिमते तस्कराणान्पतये नमो"[2]
नम उष्णीषिणे"

खड्गधारी बाणवान और तस्करों के स्वामी इन्द्र के लिये नमस्कार है उष्णीष धारी को नमस्कार है । वैदिक युद्ध के सैनिक पैर में पदत्राण और हाथ में हस्तत्राण धारण करते थे । वक्षस्थल में कम शरीर की रक्षा के लिये कवच सिर में शिल्प धारण करते थे । इस प्रकार स्पष्ट होता है । कि वैदिक योद्धा सभी प्रकार के आभूषण से अलंकृत उल्लास से परिपूर्ण रणभूमि मे गमन करते थे ।

1- शतपथ - 1.2.4

2- शुक्ल0 - 16.21

दुन्दुभि -

वैदिक युग में दुन्दुभि नामक वाद्य का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान था ऋग्वेद में भी दुन्दुभि की महिमा वर्णित है । दुन्दुभि एक विशिष्ट ढोलक था जो सम्भवतः आधुनिक पटह वाद्य का रूप था । जो दुन्दुभि बजाते थे वो वाद्यकला में कुशल थे । समाज में वो प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करते थे । शु0 में भी दुन्दुभि का वर्णन मिलता है -

"उपश्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अपसेध शत्रून"[1]

हे दुन्दुभे तुम अपने निनाद से द्यावापृथिवी को गुंजा दो । सर्वत्र स्थित संसार तुम्हें सर्वत्र बजती हुयी जाने । हे दुन्दुभे वह तुम इन्द्र तथा अन्य देवों के साथ सप्रीति होकर दूर से भी दूर विद्यमान शत्रु को आगे बढ़ने से रोक दो ।

"आक्रन्दय बलमोजो न आधा निष्टनिहि"[2]

हे दुन्दुभि तुमुल ध्वनिकरों हममे बल ओज धारित करो ।

शंख -

शंख वैदिक युग का लोकप्रिय वाद्य था । शंख का उपयोग शत्रु को भयभीय करने व अपने सैनिकों के उत्साहवर्धन के लिये होता था ।

वैदिक ध्वज -

वैदिक संहिताओं में उल्लेख है कि युद्ध काल में सेनानायक अपने-अपने अलग-अलग ध्वज लेकर चलते थे । यजुर्वेद में उल्लेख है कि -

"अस्माकमिन्द्रःसमृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु"[3]

1- शु0य0 - 29.52

2- " - 29.56

उठी हुयी हमारी ध्वजाओं के शत्रु की ध्वजाओं से संगत होने पर इन्द्र हमारा रक्षक होवे । इन्द्र की कृपा से जो हमारे बाण हैं वे शत्रु को जीते । राजा सेनानायक अपने-अपने ध्वज पर अलग-अलग चिह्न अलंकृत करते थे जिससे उन्हें सरलता से पहचाना जा सके ।

राष्ट्रगीत -

शु० के इस मंत्र के उस युग का राष्ट्रगीत कहा जा सकता है जो राष्ट्र की सर्वविध उन्नति की कामना को प्रकट करता है -

आ ब्रह्मब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा
राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो
जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिपुरन्धिर्योषा
जिष्णु रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरोजायतां
निकाम निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न
ओषधयः पच्यन्तां योग क्षेमो नः कल्पताम् ।

हे ब्रह्मन हमारे राष्ट्र मे यज्ञ व अध्ययनशील ब्राह्मण उत्पन्न होवें । क्षत्रिय शूर लक्ष्यवेधी धनुष-बाणधारी तथा महारथी उत्पन्न होवे दुधारू गाय भारवाही बैल व्यापनशील घोड़ा मनोहारिणी स्त्री तथा इस यजमान के जयशील रथारोही सभा कुशल तथा संचन समर्थ पुत्र उत्पन्न होवें समय-समय पर कामना करने पर पर्जन्य पानी बरसावें । व्रीहि-यवादि ओषधियां फलयुक्त हो परिपाक को प्राप्त होवें परमात्मा हमारा योग (लब्ध लाभ) और क्षेत्र (लब्ध की रक्षा) देवें ।

1- शुक्ल० - 222

विधि -

वैदिक राज्यों में विधि विशिष्ट रूप से आदरणीय थी राजा विधि रक्षक होता था उसके अधिपत्य से विधि सम्मत प्रशासन होता था । विधि रक्षण में अक्षम राजा निन्दनीय होता था ।

विधि निर्माण साधन -

प्राचीन भारत में राज्य या समिति न तो विधि नियम बनाती थी न उनको बनाने के अधिकार का दावा करती थी । आधुनिक युग में सर्वोच्च व्यवस्था सभा द्वारा बनाये गये विधि नियम सर्वमान्य हो रहे हैं और सनातन रूढ़ि नियमों का क्षेत्र अधिकाधिक संकुचित करते जा रहे हैं । पर प्राचीन काल में यह स्थिति न थी । विधि नियम या कानून धार्मिक और लौकिक दोनों श्रेणी के होते थे । धार्मिक विधि नियमों के आधार शास्त्र, लौकिक प्रथाएँ और पुराने रीतिरिवाज थे । सरकार या केन्द्रीय समिति का इस विषय में कोई अधिकार न समझा जाता था । यदि सरकार ने परम्परागत विधि नियमों को बलात् बदलने की चेष्टा की होती तो उसका अधिक दिन टिकना असंभव हो जाता परम्परागत रिवाज भी धार्मिक नियमों की भाँति दिव्य समझे जाते थे । इनमें भी काल-क्रम से परिवर्तन होता था पर यह परिवर्तन धीरे-धीरे प्रथाओं के स्वयं परिवर्तित होने से चुप-चाप अलक्ष्य गति सो से हो जाता था । व्यवस्थापक सभा के आदेश से हठात् परिवर्तन से समाज में घोर दैवी आपत्तियों के विक्षोभ की आशंका थी । अतः वैदिक काल में राज्य या समिति कोई भी विधि नियम नहीं बनाती थी ।

राज्य के उच्चाधिकारी -

शासन-व्यवस्था में राजा को सहयोग देने के लिये प्रशासन अधिकारियों का एक विशेष संगठन होता था । जिसके सदस्यों को रत्निन् कहा जाता

था । शतपथ में वर्णन है कि इन पदाधिकारियों के घरों में राजसूय यज्ञ के अवसर पर "रत्नहवि" नामक एक संस्कार सम्पन्न किया जाता था जहाँ राजा प्रत्येक रत्निन् से कहता था कि वह निश्चय ही राजा का एक रत्न है तथा उसी के लिये राजा का अभिषेक होता है ।[1] शतपथोक्त ग्यारह रत्नियों का क्रमशः विवरण निम्न प्रकार है -

1- सेनानी 2- पुरोहित 3- महिषी 4- सूत 5- ग्रामणी 6- क्षत्
7- संग्रहीत 8- भागदुघ 9- अक्षवाप 10- गोविकर्तन 11-पालागल

तैत्तरीय संहिता में गोविकर्तन एवं पालागल की अपेक्षा बावाता, परिवृक्ति, तथा राजन्य को स्थान दिया गया है ।[2] तथा कुल संख्या बारह प्रदर्शित है । द्रष्टव्य है कि "नवरत्न" में दोनों में समान हैं । प्रस्तुत पदाधिकारियों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य निम्न प्रकार है -

1- <u>पुरोहित</u> -

राजा का पुरोहित उसके धार्मिक कृत्य के सम्पादक के अतिरिक्त राजकीय प्रशासन का अंग था । वाजपेय यज्ञ के अवसर पर पुरोहित कामना करता है कि- ता अस्मभ्यं मधुमतोर्भवन्तु वयंराष्ट्रे जागृयाम् पुरोहिताः स्वाहा"[3] जल ओषधियां हमारे लिये मधुरतायुक्त होवें । हम पुरोहित राष्ट्र में सदा जागृत {सचेत} रहे यह आहुति है ।

संशित क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः"[4]

1- शतपथ - 5. 3. 1. 1

2- तैत्तिरीय संहिता- 1. 8. 9. 1

3- शुक्ल0 - 9. 23

4- " - 11. 81

जिस राजा का मैं पुरोहित हूँ यह क्षत्रिय राजा भीमेरे मंत्रादि से संतीक्ष्ण होकर सर्वदा विजयशील हो रहा है । पुरोहित सत्य धर्म का रक्षक था ऐसा प्रतीत होता है कि जब कोई राजा नए क्षेत्र को हथियाने के लिए युद्ध हेतु निकलता था तो पुरोहि अग्रणी रहता था जैसा कि विदेघमाघव एवं पुरोहित गौतम राहुगण के शतपथीय द्रष्टान्त से ज्ञात होता है । देवताओं के पुरोहित बृहस्पति थे ।[1]

सेनानी -

राज्य की सुस्थिरता तथा वाह्य एवं आन्तरिक उपद्रव से राज्य की रक्षा के लिये सेना नितान्त आवश्यक थी सेना का सर्वोच्च अधिकारी सेनानी कहा जाता था । सेनानी का युद्ध-कौशल शस्त्र-संचालन और सैन्य संगठन में कुशल होना आवश्यक था । उसका कार्य सेना के सब विभागों की व्यवस्था करना था जिससे कि उसकी युद्ध-शक्ति बराबर बनी रहे । यजुर्वेद में सेनानी की वेशभूषा वाले रुद्र की स्तुति की गयी है ।

"नमो हिरण्य बाहवे सेनान्ये"[2]

इसी प्रकार अन्य स्थल पर भी सेनानी पद का उल्लेख है एक स्थल पर कहा गया है कि - "अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानी ग्रामण्यौ"[3] पश्चिम को गति करने वाला और सर्वत्र व्यापनशील यह सूर्य विश्ववाचा है रथप्रोत इसका सेनापति और असमरथ इसका ग्रामपति है" ऋग्वेद से इसका उल्लेख तथा रत्नियों के क्रम में इसका प्रथम होना प्रशासन में सैनिक शासन की प्राथमिकता का सूचक है ।

1- शुक्ल0 -

2- " 16. 11

3- " 15. 17

ग्रामणी -

राजकीय प्रशासन में इसके कार्यक्षेत्र की सीमा को निश्चित बताना कठिन है । सायण ने "ग्रामाणां नेता" कहा है जो सामान्य अर्थ है उव्वट और महीधर ने भी "ग्रामे नयतीति ग्रामणीः" अर्थ किया है । यजुर्वेद में विभि-स्थलों पर सेनानी और ग्रामणी का साथ-साथ उल्लेख है -

"अयं पुरोहरिकेशः सूर्यरश्मितस्य रथगृत्सरथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ"[1]

सम्मुख ही चुनी जाने वाली यह जो अग्नि है जिसकी केश की ज्वाला रश्मियाँ हैं तथा सूर्य के समान रश्मियाँ वाला है जिस अग्नि के रथगृत्स और रथौजा नामक देवसेनानी और ग्रामणी है । ग्रामणी जाति से निश्च ही वैश्य होता था जो अपने सजातीयों को अनुशासन में रखता था अतः गाँव की विश का प्रधान माना जा सकता है । किन्तु यह कहना कठिन है कि प्रत्येक गाँव का अलग ग्रामणी होता था । अथवा पूरे राष्ट्र के गाँवों को "विश" का नेता होता था ।

सूत -

सूत के वास्तविक कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है अल्तेकर के मत मे यह रथसेना का प्रधान था ।[2] शतपथ मे इस रत्निन का नाम बहुधा ग्रामणी के साथ आता है । शुक्लयजुर्वेद में सूत का उल्लेख किया गया है-

"सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः"[3]

अहन्ता सारथिरूपा रुद्र को नमस्कार है । वनों के स्वामी के लिये नमस्कार है। इस प्रसंग में भाष्यकार उव्वट ने इसका अर्थ सूत अश्व का सारथि किया है । अतः सम्भव है कि राजकीय अश्वशालाओं की व्यवस्था करना भी इसका कर्तव्य रहा हो ।

1- शुक्ल0 - 15. 15

2- प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ0 110

3- शुक्ल0 - 16. 18

क्षत्ता -

शतपथ में क्षत्ता को अन्तःपुर का अध्यक्ष[1] कहा गया है यह भी संभव है कि वह अन्तःपुर के परिचर वर्ग का अध्यक्ष पदाधिकारी हो अल्टेकर के मत में यह राजा का परिपार्श्विक था ।[2] महीधर ने शु0 में इसे प्रतिहार माना है ।

क्षत्तारं प्रतीहारम्[3]

कुछ विद्वान् क्षत्ता को भोजन वितरक मानते हैं ।

गोविकर्तन -

वैदिक युग में वर्तमान युग की अपेक्षा बहुत से बन थे । वनों में पशु छुट्टे घूमा करते थे । अतः उन पशुओं के देखभाल के लिये जो अधिकारी था उसका ही नाम गोविकर्तन था । अल्तेकर इसे राजा के गोधन का अधिकारी मानते हैं।[4] शु0 में "गां विकृन्तन्तं"[5] इस पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है ।

भाग दुघ -

भागदुघ अर्थ-विभाग का कर्मचारी था । इसका मुख्य कार्य जनता से कर संचय करके राजकीय कोषागार में जमा करना था, शु0 में इसके नाम का उल्लेख है परन्तु इसके अधिकारों का उल्लेख कहीं भी नहीं है -

"स्वर्गाय लोकाय भागदुघं वर्षिष्ठायनकाय परिवेष्टारम्"[6]

1- शतपथ - 5. 3. 17

2- प्राचीन भारतीय शास0

3- शु0 - 30. 13

4- प्राचीन शासन पद्धति -पृ0 113

5- शुक्ल0 - 30. 18

6- " - 30. 13

स्वर्गलोग के लिये भागदुघ को तथा श्रेष्ठ नाक के लिये परिवेष्टा को बांधे । अल्तेकर के मत में भागदुघ स्पष्ट ही कर वसूलने वाला या अर्थमंत्री था।[1] देवों में इसकी उपमा पूषन से दी गयी है ।

महिषी -

रत्नियों में महिषी की स्थिति इसके प्रशासकीय व्यक्तित्व की द्योतक है । वाजपेय यज्ञ के अवसर पर यह रानी राजा के साथ सिंहासनारोहण करती है- "प्रजापते प्रजा अभूमस्वर्देवा अगन्मामृता अभूम"[2]
(पत्नी और यजमान सीढ़ी से यूप के ऊपर चढ़े) हम प्रजापति देव की प्रजा हो गये हैं देवों हम स्वर्ग को प्राप्त हुये । इसका कारण निश्चय ही धार्मिक अनुष्ठान में पति पत्नी की सामूहिक अपेक्षा थी । तैत्तिरीय संहिता में वावाता और परिवृक्ति को भी रत्नियो में रखा गया है किन्तु शतपथ केवल महिषी को ही यह सम्मान देता है ।

संगृहीता -

यह अर्थ विभाग का एक विशिष्ट पदाधिकारी था अल्तेकर के मत में यह कोषाध्यक्ष था ।[3] शतपथ के अनुसार संग्रहीत सारथि का आशय व्यक्त करने वाला पदाधिकारी है किन्तु सायण ने इसे कोषाध्यक्ष माना है ।

उपर्युक्त रत्नियों के अतिरिक्त प्रशासन में राजा के भाई का भी हाथ रहता था किन्तु वह राजा से कम तथा सूत एवं ग्रामणी से अधिक शक्ति-सम्पन्न माना गया है । स्थपति की गणना रत्नियों में नहीं की गयी है । किन्तु यह स्पष्ट है कि ये राजकीय तथा अराजकीय सभी पदाधिकारी राजा के प्रति निष्ठावान् होते थे ।

1- प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ0

2- शुक्ल0 -9

परिषद् -

वैदिक युग की न्याय और शासन व्यवस्था धर्म पर आधारित थी । समाज और राजा दोनों धर्म द्वारा शासित होते थे । वैदिक युग में न्याय शासन तथा सामाजिक कार्यों के लिये परिषद हुआ करती थी । ये परिषदे राज्य के सर्वोच्च व्यक्तियों सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने वाले शिल्पियों एवं कर्मकारों का प्रतिनिधित्व करती थी । ये परिषदे राजा की सहायता किया करती थी और प्रजा के प्रति उत्तरदायी हुआ करती थी और राजा उनके प्रति उत्तरदायी हुआ करता था । ये परिषद वस्तुतः राजा और प्रजा के बीच कड़ी हुआ करती थी । वैदिक परिषद में समिति सभा नरिष्ठा नाम के संस्था का उल्लेख मिलता है।

समिति -

सभा और समिति का वैदिक काल में बड़ा ऊँचा स्थान था । एक सूक्त में उन्हें प्रजापति की जुडवाँ दुहिताएं कहा गया है -

"सभा चां मां समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने"[1]

इससे मालूम होता है कि लोग समझते थे कि ये सनातन ईश्वरनिर्मित संस्थायें है और यह मानते थे कि यदि समाज के आदिकाल में नहीं तो कम से कम राजनीतिक जीवन के प्रादुर्भाव के साथ ये भी अस्तित्व में आया । ऋग्वेद में समिति का उल्लेख सामाजिक या विद्वन्मण्डली के रूप में किया गया जान पड़ता है । अथर्ववेद में एक स्थल पर एक पदच्युत राजा ने पुनः सिंहासनारूढ़ होने पर सबसे बड़ी आकांक्षा यही प्रकट की कि मेरी समिति सदा मेरी ओर रहे-

"ध्रुवाय ते समितिः कल्पता मिह"[1]

इसी प्रकार ब्राह्मण का धन अपहरण करने वाले राजा को सबसे बड़ा शाप यही दिया जाता था कि तुम्हारी समिति तुम्हारा साथ न दे ।

1- अथर्ववेद - 6.88.3

"नास्मैः समितिः कल्पते न मित्र नयते वशम्"[1]

समिति में गहरा वादविवाद होता था । राजनीति में नाम करने के इच्छुक नये सदस्य अपनी भाषण कला से समिति को प्रभावित करने के लिये उत्सुक रहते थे ।

"ये संग्रामाः समितियस्तेषु चाक पादाम्यहम्"[2]

समिति मे सफलता उसी को मिलती थी जो अपनी वाकचातुरी और तर्क-बल से सदस्यों को अपनी ओर कर ले । उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट होता है कि एक दो स्थानों पर समिति का सामाजिक गोष्ठी के रूप मे उल्लेख होने पर भी वह वास्तव में राजनीतिक संस्था थी । और उसका रूप केन्द्रीय शासन की व्यवस्थापिका सभा का था यह संस्था अत्यन्त प्रभावशाली थी बहुधा इसी के समर्थन पर राजा का भविष्य निर्भर रहता था । समिति के विरुद्ध हो जाने पर राजा की स्थिति अत्यत सकटपूर्ण हो जाती थी । खोये हुये राज्य को फिर से प्राप्त करने वाले राजा की स्थिति तब तक सुदृढ़ न मानी जाती थी जब तक समिति उससे सहयोग करने पर तैयार न हो जाय । यह स्पष्ट है कि राज्य के केन्द्रीय शासन और सेना पर समिति का बहुत अधिक प्रभाव था पर व्यवहार में इसका उपयोग कैसे होता था और राजा के अधिकारों से इसका सामंजस्य किस प्रकार किया जाता था इसका हमें ज्ञान नहीं । यजुर्वेद में समिति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है यह खेद और आश्चर्य की बात है कि जो समिति ऋग्वेद और अथर्ववेद के युग में इतनी प्रमुख और प्रभाव-शाली संस्था रही हो वह संहिता और ब्राह्मण के युग आते-आते लुप्त सी हो जाये । उपनिषद काल में समिति पुनः प्रकट होती है ।

1- अथर्ववेद - 5. 19. 15

2- " - 12. 1. 56

सभा -

समिति के समान तथा समकक्ष एक अन्य राजनैतिक संगठन था जो सभा के नाम से विख्यात था । सभा सम्भवतः चुने हुये लोगों की संस्था होती थी और समिति के अधीन होकर कार्य करती थी वह मुख्यतया न्यायालय का कार्य करती थी और इस सम्बन्ध में राजा को सलाह देती थी । शुक्लयजुर्वेद मे स्पष्ट है कि सभा मुख्यतया धार्मिक न्यायिक पक्षों पर राजा की सहायता करती थी ।

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।
"यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा"[1]

हे मरुतां ग्राम में हमने जो पाप किया है सभा में जो पाप किया है तथा इन्द्रिय-लोलुपतावश जो पाप हमने किया है हमने जो कुछ भी अशेष पाप किया है वह पाप इस चातुर्मास्य याग के द्वारा विनष्ट हो जाये । यजुर्वेद में प्रयुक्त सभाचर का अभिप्राय सभा में स्थित उस व्यक्ति से है जो न्याय करता है -

"नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचर"[2]

नृत्त के लिये सूत को गीत के लिये शैलूष को तथा धर्म के लिये सभाचारी को बांधता है । सभा में सभासदों के बीच किसी विशेष प्रश्न के ऊपर स्वतंत्रतापूर्वक विवाद होता था निर्णीत सिद्धान्त सबके लिये मान्य तथा अनिवार्य होते थे इसलिये शुक्लयजुर्वेद की सांस्कृतिक प्रार्थना में युवा पुरुषों को सभा में योग्य होने की मनीषा प्रकट की गयी है -

"सभेयो युवा"[3]

शतपथ में सभा को सभाभवन के रूप में ग्रहण किया गया है जो सार्वजनिक कार्यों का स्थान होता था शुक्लयजुर्वेद मे सभापति का उल्लेख मिलता है -

---

1- शुक्ल 0 -3. 45

2- " - 3. 45

3- " - 30. 6

नमः सभाभ्यः सभापतिश्चवो नमः"[1]

सभाओं को नमस्कार है । सभापति को नमस्कार है । सभापति ही सभा का अध्यक्ष होता था सभापति का पद पुरोहित या उच्चाधिकारी के बराबर होता था।

प्रस्तुत अध्याय में विवेचित राज्य-संस्था के गठन उद्देश्य क्रिया-कलाप तथा उसके अधिकारों के अध्ययन से प्रत्यक्ष है कि उस समय राज्य संस्था का पूर्वापेक्षा विकसित स्वरूप उभर कर सामने आया ।

आर्थिक जीवन

ज्ञान तथा विज्ञान के विस्तृत सागर वैदिक साहित्य में हर प्रकार के इहलौकिक तथा विशेष रूप से पारलौकिक विषयों पर पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है । पर भौतिक सुख की प्राप्ति के लिये आर्थिक साधनों के उपयोग सम्बन्धी विषयों का अपेक्षाकृत सीमित विवरण ही प्राप्त होता है । परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वैदिक ऋषि भौतिक सुख एवं कल्याण की भावना से अनभिज्ञ थे । वेदों में समृद्धि के बहुत से गुण बताये गये हैं जिनके द्वारा पता चलता है कि वैदिक साहित्य में धन की धारणा सर्वजनहित से विशेषकर सम्बन्धित थी । धन और कल्याण दोनों को परस्पर सम्बद्ध माना जाता था । यह बात इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि समृद्धि के लक्षणों के रूप में जो पदार्थ बताये गये हैं । अन्न, पशु, दुग्ध आरोग्य आदि सभी पदार्थ समृद्धि के सूचक माने गये हैं इन्द्र अग्नि और पूषन से इन्हीं की याचना गृहस्थ की समृद्धि के लिये की गयी है -

सुप्रजा प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः

नर्य प्रजां मे पाहि शंस्यपशून्मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि[1]

अर्थात् हे सच्चिदानन्द स्वरूप अग्निदेव तुम्हारी दया से मै उत्तम सन्तानों के द्वारा सन्तान वाला होऊँ । सुन्दर वीरों से वीर वाला और अन्नादि पोषकों से मैं सुपोषक होऊँ । हे आहवनीय अग्नि हे मानवहितकारिन तुम मेरी सन्तान को बचाओ हे स्तुत्य गार्हपत्याग्ने तुम मेरे पशुओं को हिंसादि से बचाओ । हे स्थिर दक्षिणाग्ने तुम मेरे खाद्यान्न को नष्ट होने से बचाओं । वेदों में मनुष्य द्वारा धन का संचय करना

1- शुक्लयजुर्वेद -3. 37

और उसका उपभोग करना मनुष्य जीवन का उपयुक्त कर्तव्य माना गया है । पर इन सब प्रक्रियायों में कुछ नियमों तथा सिद्धान्तों का अनुसरण आवश्यक है । इन नियमों के विरुद्ध धन कमाना अवांछनीय माना गया है । इसके अतिरिक्त जो सबसे महत्वपूर्ण बात धन को अर्जित करने के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कही गयी है वह यह कि दूसरों के सहारे जीवित नहीं रहना चाहिये । पूजाकार वरुण से प्रार्थना करता है कि -

"माहं राजन्न अन्य कृतेन भोजम"[1]

हे राजन् मुझे दूसरे के द्वारा अर्जित धन के आश्रय पर न रहने दे । अतः स्वयं श्रम करके धन अर्जित करते थे । उनकी जीविका का प्रधान साधन कृषि तथा पशुपालन था ।

कृषि कार्य -

वैदिक आर्य कृषि जीवी थे ऋग्वेद में उल्लिखित "कृष्टि" शब्द से समस्त आर्यजनों के कृषक होने का प्रमाण मिलता है । आज की ही भाँति तब भी कृषि कार्य को बड़ा महत्व दिया जाता था । कृषि को अपनाना तब आर्यत्व एवं श्रेष्ठत्व की पहचान थी । समाज के सभी वर्ग के लोग प्राणरक्षिका एवं जीवन दायिनी धरती के प्रति आदर सम्मान का भाव रखते थे । वैदिक जन-जीवन कृषि पर अवलम्बित होने के कारण वेदों तथा वैदिक साहित्य में धरती के प्रति बड़े श्रद्धा भाव से उद्गार प्रकट किये हैं । ऋग्वेद की एक ऋचा में कहा गया है "मातापृथिवी महीयम्" शुक्लयजुर्वेद में भी वर्णन है -

---

1- ऋग्वेद - 2.29.9

"वाजस्य नु प्रसवे मातरं
महीमदितिं नाम वचसा करामहे"[1]

अन्न की प्राप्ति या अनुज्ञा के निमित्त मैं इस महती माता अदिति को वेद वाक्य के द्वारा अनुकूल बनाता हूँ। और शुक्लयजुर्वेद का यह मंत्र -

"नमो मात्रे पृथिव्या"[2]

आज भी धरती के प्रति भारतीयों के असीम प्रेमभाव का द्योतन करती है। ऋग्वेद में कहा गया है कि -

"अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित कृषस्व"[3]

अर्थात् जुए में समय न बर्बाद करो कृषि कर्म करो। इसी प्रकार कृषि कर्म के अनेक उदाहरण वेदों में मिलते हैं।

भूमि -

ऋग्वेद और अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर कृषि योग्य भूमि को उर्वरा या क्षेत्र कहा गया है। शतपथ में भी कृषित भूमि को क्षेत्र अथवा "उर्वरा" कहा गया है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है -

"सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम्"[4]

उत्तान लेटी हुयी भूमि का हृदय यदि क्षतिग्रस्त हो गया है तो मातरिश्वा वायु उसमें पुनः शक्ति संधान कर दे। इससे यह सूचित होता है कि भूमि की उपजाऊ

1- शुक्लयजुर्वेद - 18.30

2- " - 9.22

3- ऋग्वेद - 10.34.13

4- शतपथ - 1.4.1.15

शक्ति यदि न्यून या समाप्तप्राय हो गयी है तो कुछ समय उसमें खेती न करके उसे खाली छोडे रखने से शुद्ध वायु, सूर्य रश्मि, वर्षा आदि के द्वारा उसमें पुनः शक्ति आ सकती है । मातरिश्वा वायु का अर्थ है अंतरिक्ष संचारी पवन जो जल तेल आदि अन्य प्राकृतिक तत्व का भी उपलक्षक है । परन्तु आज के युग में जब जल वायु आदि भी प्रदूषित हो गये हैं तो उनसे भूमि की क्षतिपूर्ति संभव नहीं है ।

कृषि के विभिन्न रूप और सिंचाई -

कृषि की उन्नत दशा का आभास हमें कतिपय मन्त्रों में प्राप्त होता है उदाहरणार्थ,कई मन्त्रों में वर्षभर में कई फसलों के उगाये जाने का स्पष्ट विवरण मिलता है -

"या ओषधी पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं
पुरा मनैनु बभ्रूणामहशतं धामानि सप्त च"[1]

पूर्व काल में तीनों युग [जाड़ा,गर्मी, बरसात] लेकर सब ऋतुओं के निमित्त जो-जो ओषधियाँ उत्पन्न हुई थीं । मैं उन् पककर धूमिल वर्ण वाली ओषधियों के सौ एवं सात स्थानों या तेजों को जानता हूँ अर्थात् सौ वर्ष की आयु में मुखमंडलगत सात, प्राणों के पुष्ट बने रहने का जानता हूँ । उस समय कृषि को सिंचाई के लिये समुचित व्यवस्था थी । नदी और कूप दोनों प्रकार के जलों से सिंचाई की जाती थी-

"नमः कूप्याय चाडवट्याय च"[2]

1- शुक्लयजुर्वेद - 17.75

2- " - 12.75

कूप में उत्पन्न को नमस्कार है । ऋग्वेद में जल दो प्रकार का बतलाया गया है

"या आपो दिव्या उतः या स्रवन्ति

खनित्रिया उत वा याः स्वयंजा"[1]

दिव्य जल दो प्रकार के है खनित्रिमा अर्थात् खोदने से उत्पन्न होने वाला ।
स्वयजाः अर्थात् अपने आप होने वाला नदी जल आदि । सामान्यतः कृषि वर्षा
के जल से ही सम्पन्न होती थी । शुक्लयजुर्वेद में वृष्टि का देवता पर्जन्य कहा
गया है वैदिक आर्य पर्जन्य से वर्षा की कामना करता है -

"निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु

फलवत्यो न ओषधय पच्यन्ताम्"[2]

समय-समय पर कामना करने पर पर्जन्य पानी बरसावे । ब्रीही-यवादि ओषधियाँ
फलयुक्त हो परिपाक को प्राप्त होवें ।

खाद कृषि का जीवन -

वैदिक युग में भी आज के युग के भाँति खेतों में खाद डालने की
प्रथा थी । खाद के लिये गाय का गोबर (करीष) काम में लाया जाता था ।

"पृथिवीं दृढ पृथिवीं मा हिंसी"[3]

शुक्लयजुर्वेद में वर्णन है "भूमि को दृढ करो भूमि की हिंसा मत करो भूमि की हिंसा
करने का अभिप्राय यह है कि उसके पोषक तत्वों को लगातार फसलों द्वारा इतना
अधिक खींच लेना कि फिर वह उपजाऊ न रहे । भूमि पोषकतत्व हीन न हो जाये ।

1- ऋग्वेद - 7.49.2

2- शुक्लयजुर्वेद- 22.22

3- " - 13.18

एतदर्थ एक ही भूमि में बार-बार एक ही फसल न लगाकर विभिन्न फसलों को बदल-बदल कर लगाना उचित विधि से पुष्ट कर खाद देना आदि उपाय है जिससे भूमि को दृढ़ किया जा सकता है ।

कृषि कर्म -

विजेता आर्यों को विस्तृत उर्वर भूमि उपलब्ध हो जाने के कारण उनके आर्थिक विकास का तीव्रतर होना स्वाभाविक था । अतः कृषि का समुन्नतर स्वरूप दृष्टिगोचर होता है । उस समय खेती आज ही की भाँति होती थी खेतों को हलों से जोतकर बीज बोने के योग्य बनाया जाता था हल का साधारण नाम लांगल था सीर था जिसके अगले नुकीले भाग को फाल कहते थे । फाल बड़ा ही नुकीला तथा चोखा होता था-

"लाङ्गलं पवीरवत्सुशेवं सोमपित्सरु तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहणं"[1]

अर्थात् हल फाल से युक्त सुखपूर्वक बनने वाला और सोम पीने वाले यजमान के निमित्त सदा गतिशील रहने वाला है । वह हल फलनशील मोटी ताजी गाय, भेड़ तथा वेगयुक्त रथाश्व देने वाला है । हल में मोटा लम्बा बाँस बाँधा जाता था जिसके ऊपर जुआ रखा जाता था जिसमें रस्सियों से बैलों का गला बाँधा जाता था । हल खींचने वाले बैलो की संख्या छह, आठ, बारह, तथा चौबीस तक होती थी । जिससे हल के भारी होने तथा बृहदाकार होने का अनुमान लगाया जा सकता है -

---

1- शुक्लयजुर्वेद - 12.71

"सीरा युन्जनन्ति कवयो युग वितन्वते पृथक् धीरा देवेषु सुम्नया"[1]

ऋत्विज छह दस या चौबीस बैलों से संगत एक गूलर के हल का इन दो मंत्रों से उपस्थान करता है । अग्निक्षेत्र को जानने वाले तथा कृषिकर्म में कुशल जन हलों को बैलों से संगत करते हैं । देवों से सुख पाने की अभिलाषा से वे दूर-दूर कूड़े बनाते हैं । शतपथ के अनुसार भी बारह बैलों वाला हल दक्षिणा मे दिया जाता था -

"षड्गवं भवति द्वादशगवं वा चतुर्विंशतिगवं वा"[2]

इतनी अधिक संख्या में बैलों को संयुक्त करने के लिये उतनी ही सुदृढ़ रस्सियों की अपेक्षा थी । मूँज की त्रिवृत् {तिहरी} रस्सियों के द्वारा हल से बैलों को संयुक्त किये जाने का उल्लेख शतपथ में मिलता है -

"मौन्ज्जं परिसीर्य त्रिवृत"[3]

हल में दाहिने बैल को पहले जोड़ा जाता था जो पुष्टतर होता था पुनः बायें को। इस प्रकार कृषि की चार मुख्य प्रक्रियायों कृषन्तः, वपन्तः, लुनन्तः, तथा मृणन्तः का एकत्र उल्लेख,शतपथ में मिलता है । हल द्वारा धरती को उर्वर बनाने के बाद वपन क्रिया की जाती थी-

"युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं
कृते योनो वपतेह बीजम्"[4]

हे कृषकों तुम हल में बैलों को जोतो और हराइयों को विस्तारित करो । कूँड़ बन जाने पर उसमें बीजों को बोओ अन्न पक जाने पर हँसिया से कटाई होती थी ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 12. 67

2- शतपथ - 7. 2. 2. 6

3- " - 7. 2. 2. 3

4- शुक्ल0 - 12. 68

"गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो
नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्"[1]

यह वेदवाणी और फसल फलयुक्त होवें। अल्पकाल में ही पककर तैयार उस फसल को काटकर हँसिया हमारे घरों में ले आवें। फसल कट जाने पर धान की मँडाई (तुषविमोचन) की जाती थी। अन्न ओसाने तथा साफ करने के लिये जिस सूप का प्रयोग किया जाता था विद्वानों के अनुसार वह सरकंडे का बना होता था। शुक्लयजुर्वेद में भी सूप का वर्णन किया गया है -

"वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु
परापूतं रक्षः परापूता अरातयः
अपहतं रक्षो वायुर्वो विविनक्तु देवोवः
सविता हिरण्यपाणि प्रतिगृभ्णात्वा छिद्रेण पाणिना[2]

हे सूर्प तुम वर्षा के द्वारा बढ़े हुये हो। तुम्हें वर्षा में उत्पन्न तण्डुल अपना जानें। चावल को पछोरने के द्वारा मानो राक्षस ही पछोर दिये गये हों। अदातजन भी अपसारित कर दिये गये। तण्डुल पछोरने के द्वारा राक्षस मानो मार ही दिये। हे तुषों युक्त तण्डुलों तुम्हें शूर्प वायु भी से पृथक करे। शुद्ध तुम तण्डुलों को स्वर्णहस्त सवितादेव अपने छिद्ररहित हाथ से ग्रहण करें। इस प्रकार शुक्लयजुर्वेद में भी बोवाई, जुताई, कटाई, आदि कृषि के सभी विधि का वर्णन मिलता है।

1- शुक्लयजुर्वेद - 12. 68

2- " - 1. 16

अन्न के प्रकार -

प्रजा का आधार अन्न है ।

"अन्नं वै विशः"[1]

शतपथ ब्राह्मण के इस वाक्य और उक्त सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि अन्नदातृ कृषि के प्रति वैदिकों का असीम अनुराग था । वैदिक युग में किन-किन अन्नों का उत्पादन होता था । इसकी जानकारी के लिये भी अनेक स्रोतों का पता चलता है । शुक्लयजुर्वेद में कई प्रकार के अन्नों का उल्लेख मिलता है -

"ब्रीहश्च मे यवाश्च मे माषाश्च में तिलाश्च मे
मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मे
अणवश्च में श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे
गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम"[2]

धान, जौ, उड़द, तिल, मूँग, चना, काकुन सावाँ, कोदो, नीवार, गेहूँ और मसूर मुझे यज्ञ के द्वारा सम्प्राप्त होवे । यव शब्द का पहले सामान्य अन्न के लिये प्रयोग तथा पुनः जौ के अर्थ मे रूढ़ हो जाना अन्न जाति में जौ के अपरिमित महत्व का प्रतिपादन करता है । जिसकी पुष्टि शतपथ के एक लघु उपाख्यान द्वारा की गयी है - "देवों के पास से सभी अन्न चले गये केवल जौ रह गया जौ से ही वे जीवित रहे -----उन्होंने सारी ओषधियों का रस जौ में रख दिया । जौ से ही वे जीवित रहे"[3] इस प्रकार यजमान इसी जौ के द्वारा शत्रु के सब अन्नों

1- शतपथ- 6. 7. 3. 7

2- शुक्लयजुर्वेद- 18. 12

3- शतपथ - 3. 6. 1. 7

को खींच लेता है । शुक्लयजुर्वेद मे जौ का प्रयोग याज्ञिक क्रियाओं में स्पष्ट है -

"यवोऽसि यवयास्मद द्वेषो यवयारातीः"[1]

तू जौ है तुम हमसे शत्रु को हटा दो और बुरी बातों को हटा दो । यही कारण था कि अन्न मात्र की सामान्य संज्ञा यव में स्थानांतरित हो गई । यव के महत्व को आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी पहचाना है अधिक शक्तिवर्धकता, औषधारकता, एवं सरलता से उत्पन्न होने के कारण यव को महत्व दिया जाना स्वाभाविक था । यव के पश्चात् चावल महत्वपूर्ण अन्न था जिसे ब्रीहि कहते थे । ब्रीही को तण्डुल भी कहा जाता था । चावलों को कूटकर तुष से अलग किया जाता था । इस अन्न का यज्ञ-विधि में प्रचुरता से प्रयोग किया जाता था । हायन प्लाशुक नामक चावल का उल्लेख शतपथ मे मिलता है । हायन एक ऐसा लाल रंग का चावल था । जो वर्ष भर में पककर तैयार होता था । शुक्लयजुर्वेद में भी तण्डुल धान्यादि रूपों में ब्रीहि का वर्णन हुआ है -

"धान्यमसि धिनुहि देवान्प्राणाय
त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा"[2]

हे तण्डुल तुम पोषक धान्य हो । तु देवों पोषण करो मैं तुम्हें प्राण देने के लिये पीसता हूँ । उदान वायु व्यानवायु प्रदान करने के लिये पीसता हूँ । दर्शपूर्णमास यज्ञ में पिसे हुये चावल की रोटी ही पुरोडाश रूप में प्रयुक्त होती थी । गेहूँ को भी अन्न में श्रेष्ठ माना गया है । अतः एक स्थान पर उल्लेख है "अन्नं वै गोधूमाः" ऋग्वेद में गेहूँ का वर्णन नहीं मिलता है । शतपथ और शुक्लयजुर्वेद में

1- शुक्लयजुर्वेद - 5.26

2- " - 1.20

गेहूँ का पर्याप्त वर्णन मिलता है । वाजपेय यज्ञ में पत्नी यजमान सीढ़ी से यूप के ऊपर चढ़े और गेहूँ के आटे से बना अपूप या गूआ हुये ।

"प्रजापते प्रजा अभूम स्वर्देवा आगन्मामृता अभूम"[1]

हे देवों हम स्वर्ग को प्राप्त हो गये हम अमर हो गये । तिल भी तत्कालीन कृषि अन्नों में विशेष महत्व रखता है । यज्ञादि में आहुति देने के अतिरिक्त तिल से तेल भी निकाला जाता था । तिल के दाने तथा पौधे दोनों को ही तिल कहा जाता था । शतपथ में उल्लेख है कि तिल ही ऐसा पौधा है जिसमें कृषि गुण तथा जंगल में स्वतः उगने के रूप में दोनों गुण विद्यमान है । अतः तिलों के ग्राम्य एवं अरण्य दो भेद किये गये हैं । शतरुद्रिय होम में जर्तिल {जंगली तिल} की आहुति दी जाती है । शुक्लयजुर्वेद और बृहदारण्यक उपनिषद में मसूर की गणना दालों में की गयी है । गवेधुक तथा नीवार नामक अन्न का भी उल्लेख शुक्लयजुर्वेद में मिलता है । नीवार एक प्रकार का जंगली चावल तथा तथा गवेधुक के सत्तु की यज्ञ में हवि डाली जाती थी । उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज ही की भाँति वैदिक युग में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के अनाजों की खेती होती थी ।

पशुपालन -

आर्थिक साधन में कृषि तथा पशु परस्पर सापेक्ष साधन है । अतः कृषि प्रधान युग में पशुपालन एक अनिवार्यता है । शुक्लयजुर्वेद के अनुसार उस समय घर-घर में पशु पाले जाते थे जिनके चरने के लिये विस्तृत चरागाह छोड़े जाते थे जिन्हें गव्यूति कहा जाता था ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 9.।।

"उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वास्ति गव्यूति रभयानि कृण्वन्पूष्णा सयुजा सह"[1]
पशुओं के पालन के सम्बन्ध में विस्तृत सामग्री उपलब्ध है अतः प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में पशु पक्षी एवं वनस्पति जगत् नाम से अलग अध्याय की रचना की गयी है । जो इस प्रबन्ध में संलग्न है ।

विभिन्न खनिज -

शपथ में मूल्यवान पदार्थ अर्थ में रत्न शब्द का प्रयोग मिलता है । शुक्लयजुर्वेद के निम्न मन्त्र में भी धातुओं का उल्लेख मिलता है -

"हिरण्यं च मे अयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पताम्"[2]

हिरण्य चमकते हुये स्वर्ण का नाम है । अय फौलाद या लोहा है । श्याम काला लोहा है । लोह लाल लोहा या कान्तिसार सीस सीसा है । त्रपु टीन् या रांगा है । ये सभी धातुएँ व्यापार से सम्बन्धित है । सोना मूल्यवान धातु थी । ऋग्वेद में स्वर्ण का उल्लेख यत्र-तत्र हुआ है । भूमि गर्भ से भी स्वर्ण निकाला जाता था । इसी कारण वेदों से लेकर परवर्ती ग्रन्थों तक पृथिवी को हिरण्यगर्भा कहा गया है । शतपथ में वर्णन है कि हिरण्य अग्नि का बीज है । एक स्थान पर सोना तथा घी दोनों को ही अग्नि बीज कहा गया है-

समान जन्म वै पयश्च हिरण्यं च उभयं हि अग्नि रेतसम्"[3]

1- शुक्लयजुर्वेद-11. 15

2- " -18. 13

3- शतपथ -

हिरण्य को गलाकर हिरण्यशकल बनाये जाते थे । गले तथा वक्ष के आभूषण कान की बालियाँ तथा चषक (प्याले) बनाने में यह धातु प्रयुक्त होती थी । हिरण्यकूर्च (सोने के गट्ठड़) का उल्लेख प्रमाणित करता है कि सोने की उस काल मे कितनी बहुतायत थी । राजसूय यज्ञ में भी सोना प्रयुक्त होता था ।

चाँदी का भी रजत के रूप में उल्लेख मिलता है किन्तु स्वर्ण की अपेक्षा बहुत कम । कुछ विद्वान रूक्म को ही चाँदी का आभूषण मानते हैं । अश्वमेध यज्ञ में चाँदी से निर्मित सुइयों का उल्लेख मिलता है -

"रजता हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते कर्मभिः"[1]

अर्थात् चाँदी सोना तथा ताम्बे या लोहे की गुच्छीकृता सुइयाँ अश्व शरीर को छेदती है । धातु के रूप में लोहा भी प्राप्त होता है । शतपथ में एक जगह सोने के "शास" औजार के साथ लौहमय "आयस्" नामक शस्त्र का उल्लेख मिलता है -

"हिरण्मयोऽश्वस्य शासो भवति । लोहमयाः पर्यङ्‌गयाणा मवयसा इतरेषा"[2]

घोड़े के शास सोने का होता है । परिअंगों का ताम्बे का औरों का लोहे का । यहाँ स्पष्टतः आयस् शस्त्र का अर्थ दे रहा है किन्तु अन्यत्र जहाँ लौहायस् तथा अयस् में भेद स्थापित किया गया है । वहाँ दोनों पृथक धातुएँ हैं यहाँ लौहायस का विग्रह जन्य अर्थ लोहित (लाल) अयस् है तथा अयस् अन्य धातु । विद्वान् इन्हें क्रमशः लोहा तथा तथा ताँबा मानते हैं । शुक्लयजुर्वेद में भी छह धातुओं की तालिका दी गयी है (18. 13) इस तालिका में प्रयुक्त श्याम और लोह ताँबा तथा लोहा ही प्रतीत होता है । लोहा का प्रयोग युद्धास्त्र बनाने में होता था जैसे तलवार

1- शुक्लयजुर्वेद । 23 31

2- शतपथ । 13 2.2 16

कवच आदि । सीसा भी तत्कालीन बहुप्रचलित धातु थी । जिसका प्रयोग विनिमय के लिये होता था । इस प्रकार वैदिक युग के आर्थिक प्रगति में धातुओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा और उनके द्वारा जन-जीवन की उन्नति के अनेक नये क्षेत्र खुले ।

विभिन्न उद्योग एवं व्यवसाय -

शुक्लयजुर्वेद कालीन लोगों का आर्थिक आधार मुख्यतः खेती तथा पशुपालन था । किन्तु विभिन्न उद्योग तथा व्यवसायों के पनपने के भी प्रमाण उपलब्ध है । यजुर्वेद के "वसो चित्रस्य राधसः में चित्र विचित्र ऐश्वर्यसाधक वसु के विभुता का आह्वान् है । प्रभु ही समस्त उत्पन्न प्राणियों में पोषण सामग्री का विभाजन करने वाले हैं । उन्होंने ज्ञान धन ब्राह्मण को दिया रक्षण शक्ति क्षत्रिय को क्षत्रिय को दी । मरुत के समान गमनागमन अथवा यातायात रूपी व्यापार का धन वैश्य को दिया और शारीरिक तप श्रम रूपी धन शूद्र को दिया ।

"ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं
मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं"[1]

निम्न मन्त्र से भी उद्योगधन्धों के प्रकार का पता चलता है -

"तपसे कौलालं मायायै कर्मारं रूपाय मणिकारं शुभे वपं शरव्याया इषुकारं
हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं"[2]

कौलाल कुम्भकार है । कर्मकार लुहार है । वह लोहे से हल का फाल आदि बनाता है । मणिकार जौहरी या सुनार है । तप्ता नापित है । इषुकार शर या बाण बनाने वाला है । धनुष्कार हेति सदृश फेंकने वाले अस्त्रों को तैयार करता है ।

1- शुक्लयजुर्वेद- 30. 6

2- " - 30. 7

ज्याकार धनुष की डोरी या प्रत्यन्चा बनाने वाला है । इसी प्रकार निषाद, अध्यापक, रंगरेज धोबी, तुलाधार आदि का उल्लेख है और उनके कार्यों का निर्देश है -

तक्षा तथा रथकार -

बढ़ई को तक्षा कहा गया है यद्यपि यह अशुद्ध माना गया है । यज्ञ में प्रयुक्त अनस का निर्माण तक्षा द्वारा होता था इसलिये अनस् पर रखे हुये तण्डुल को पवित्र करके यज्ञ में प्रयुक्त करते हैं -

"दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै

यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि"[1]

अर्थात् देवों के लिए किये जाने वाले कर्म यज्ञ" के लिये तुम शुद्ध होओ देवों की पूजा के लिये तुम शुद्ध होओ । हे तण्डुलादि तुम्हारे जिस भाग को अशुद्ध दासादि ने उठाते धरते आदि समयों में शुद्धिहीन कर दिया था तुम्हारे उस भाग को मैं दर्भ-पवित्र जल छिड़ककर पवित्र करता है । तथापि यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्योगी था । तक्षा, स्त्रुवा, स्त्रुक, आदि यज्ञ पात्रों एवं घरेलू वस्तुओं के अतिरिक्त रथ तथा अनस {गाड़ी} तैयार करता था । रथकार भी एक विशिष्ट तक्षा ही था -

"नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो"[2]

गाड़ी तथा रथ के किंचित रचनात्मक भेद के कारण ये दो व्यवसाइयों के रूप में नियत हो गये थे । तक्षा गाड़ी में धान रखने के लिये "नीड" तथा बैलों के कंधे पर गाड़ी का भार रखने हेतु धूः {जुआ} बनाता था ।

"धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्वतं योऽस्मान धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः"[3]

हे धुरे तुम धुरा हो । तुम हिंसा करने वाले राक्षसादि को हिंसित करो उसको

1- शुक्लयजुर्वेद - 1.13
2- " - 16.27
3- " - 1.8

हिंसित करो जो हमें हिंसित करता है । गाड़ी की गति को रोकने के लिये अपालम्ब का निर्माण होता था ।

रथ में सामान्यतया एक ही स्तम्भ होता था । रथ चक्र का चक्रधार नेमि अत्यंत मजबूत लकड़ी से बनाया जाता था । रथकार विभिन्न प्रकार के रथों का निर्माण करने में पटु होते थे । रथ में जोते जाने वाले घोड़े के मुँह के भीतर लगे लोहयंकार को शिप्रा उससे सनद्ध लगाम को रश्ना या वल्गा और उसको हाँकने की छड़ी को कशा कहा गया है । घोड़ों की लगाम या वल्गा को अभिशु भी कहा गया है-

"सुषारथि रश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभिशु वर्जित इव"[1]

कुशल सारथि के अश्वों को अभीष्ट स्थल पर ले चलने के समान व लगामों के द्वारा अश्वों को नियंत्रित रखने के समान जो मनुष्य को यत्र-तत्र ले जाता है । शतपथ ब्राह्मण में नावों का उल्लेख मिलता है । जिन्हें संभवतः बढ़ई ही बनाता होगा । इसके अतिरिक्त तक्षा आसदी, स्पत्या, इध्म आदि अनेक उपयोगी वस्तुएँ तैयार करते थे ।

कर्मार -

कर्मार अत्यंत घरेलू शिल्पी था । यह अस्त्र-शस्त्र तथा घरेलू उपयोग की आयसी एवं लौहमय वस्तुएँ बनाता था । अयस का धमन करके विभिन्न वस्तुएँ बनाती थी । शुक्लयजुर्वेद में कर्मार शब्द का उल्लेख मिलता है -

"तपसे कौलालं मायार्य कर्मार"[2]

1- शुक्लयजुर्वेद- 35. 6

2- " - 30. 6

कर्मार ही पार्श्व अति अर्थात शास नामक अस्त्र निर्मित करता है -

"हे स्वरूशासौ युवां घृतेनाक्तौ सन्तौ पशून"[1]

कर्मार द्वारा बनाये गये औजारों में अभ्रि विशेष उल्लेखनीय है जिसका यज्ञ के प्रसंग में अनेक बार उल्लेख हुआ है । अभ्रि का शिरोभाग धातुनिर्मित होता था तथा बाँस विक्रंकत या उदुम्बर की लकड़ी से एक हाथ का हत्था बनाया जाता था

"अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयम् अग्निशकेम् खनितु"[2]

हे अभ्रि तुम बाँस की बनी हुयी हो । तुम स्त्रीलिङ्ग हो हम तुम्हारे द्वारा अग्नि खोद निकालने में समर्थ होवें । कर्मार द्वारा निर्मित घरेलू उपयोग की वस्तुएँ परीशास, उपवेश (चिमटा) सुई आदि थीं । सुई लकड़ी, लोहा, रजत, हिरण्य चारों से बनती थी -

"रजताः हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते कर्मभिः"[3] चाँदी, सोना तथा ताम्बे या लोहे को सूच्छीकृता सुइयाँ अश्व के शरीर में छेद करने के कर्मों के द्वारा अश्व शरीर से संयोग प्राप्त करती है । इस व्यवसायी के बहुविध कर्तव्य के कारण ही अथर्ववेद में इसे सम्मानित किया गया है ।

वस्त्रोत्पादन -

वैदिक युग में जो भी छोटे बड़े शिल्प प्रकाश में आये थे । उनमें वस्त्र व्यवसाय को अधिक प्रसिद्धि मिली थी । वस्त्र बुनने की क्रिया का इतना अधिक प्रचलन हो चुका था कि वैदिक ऋषि यज्ञ-क्रिया से इसको उपमा देते थे ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 6.11 महीधर भाष्य

2- " - 11.10

3- " - 23.37

ऋग्वेद में पूषन् देवता "वासोवाय"[1] कहा गया है । यद्यपि यह एक प्रतीकात्मक सन्दर्भ है । तथापि इसके आधार पर वस्त्र व्यवसाय की उपयोगिता एवं मान्यता का पता चलता है । वेदों और वैदिक साहित्य में वस्त्र बुनने सम्बन्धी मौलिक सामग्री देखने को मिलती है । शुक्लयजुर्वेद के एक सन्दर्भ से यह ज्ञात होता है कि बुनने की क्रिया में "तसर" का प्रयोग होता था और बुनने वाले को वाय कहा जाता है -

"सरस्वती मनसा पेशलं वसु नासत्याभ्यां वयति दर्शतः वपुः । रसं परिस्त्रुता नरोहितं नग्नहुर्धीरस्तसरं न वेम"[2]

नासत्यौ के साथ मन से एक होकर सरस्वती मांसल व दर्शनीय शरीर बुनती थी । वह चुवाई हुई सुरा के इस से लोहित रस बना रही थी । धीर नग्नहु §24 ओषधियों का एकीकृत रूप§ बुनने का तसर व वेमा था । करघे को वेमन कहा गया है । एक अन्य सन्दर्भ से विदित होता है कि तन्तु जाल खींचने के लिये एक खूंटी §मयूख§ तथा उसे तानने के लिये शीशे के वजन का प्रयोग होता था-

"सीसेन तंत्र मनसा मनीषिण
उर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति"[3]

मनोबल धारी और क्रान्त द्रष्टाजन मन के द्वारा विचार करके सीसे में तंत्र को भरते हैं । पुनः उस तंत्र को ऊन के धागे में गूहते हैं । धागे के लिये तन्तुतथा सूत्र का प्रयोग सूती कपड़ों के निर्माण का सूचक है । अन्यथा ऊन के धागे के लिये उर्णा विशेषण लगाने की आवश्यकता नहीं थी । तार्प्य नामक वस्त्र को भी कुछ विद्वान मलमल परिधान मानते हैं किन्तु यह रेशमी वस्त्र था । इस प्रकार बुनकर सूती रेशमी

1- ऋग्वेद 10.26.6

2- शुक्लयजुर्वेद -19.83

3- " - 19.80

तथा ऊनी तीनों प्रकार के वस्त्र बनाते थे । ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण और शुक्लयजुर्वेद में उल्लिखित "पेशस्" शब्द संभवतः कढ़े हुये वस्त्र के लिये प्रयुक्त होता होगा । वस्त्र निर्माण स्त्रियों का नियमित व्यवसाय हुआ करता था । शतपथ में भी उल्लेख है कि ऊन का संभवतः सभी प्रकार का सूत स्त्रियाँ करती थीं -

"एतद्वा एतद् स्त्रीणां कर्म यद् उर्णासूत्रम्"[1]

कढ़ाई बिनाई के अतिरिक्त सिलाई की कला से भी वैदिक आर्य सुपरिचित थे । वेदों में सुई के लिये सूची या वेशी नामों का उल्लेख हुआ है । इससे सिद्ध होता है कि कपड़ों की सिलाई तथा कढ़ाई के लिये तब भी सुई का उपयोग किया जाता था । प्रघात एवं दशा (किनारी) आदि से संयुक्त वस्त्रों की रचना बुनकर उद्योग के विकास की परिचायक है ।

लघु-उद्योग -

इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के लघु उद्योगों की स्थिति भी दिखाई देती है । इनमें रस्सी तथा चटाई उद्योग अत्यधिक व्यापक प्रतीत होता है । रस्सी को बंधन, योक्त्र, रशना, तथा रज्जु कहा गया है । रशना, दर्भ, तथा रज्जु मुँज नामक घास से त्रिगुणित कर बनाई जाती थी ।

"अदित्यै रास्नासि"[2]

चटाइयाँ भी विविध प्रकार की बनती कट तथा इदुसन नामक चटाई वेतस नामक चटाई वेतस से बनती थी । घास की चटाई छत डालने के काम आती थी तथा नरकट की चटाई भित्ति के रूप में काम में ली जाती थी -

---

1- शतपथ 12.7.1।

2- शुक्लयजुर्वेद- 1.17

"घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य"[1]

छदिरसि विश्वजनस्य छाया ।

घृत से द्यावापृथिवी को पूरित करो । हे छाजन तुम इन्द्र की छाजन हो । तुम ऋत्विजादि की छाया करने वाली हो । शुक्लयजुर्वेद में बाँस चीरने वाली स्त्रियाँ विदलकारी कही गयी है -

"पिशाचेभ्यो विदलकारी"[2]

जिनके बारे में महीधर ने अपने भाष्य में लिखा है "वंशविदारिणं वंशपात्र कारिणीम" आसंदी में भी चटाई की पट्टियाँ लगती थी । सामान्य उपयोग के लिये "सूतक" नामक छोटी टोकरियाँ भी बनती थी । वैदिक युग में ~~चर्म उद्योग का उल्लेखनीय~~ चर्म से दैनिक उपयोग की अनेक वस्तुएँ बनने लगी थीं । रथ के आस्तरण तथा घोड़े की लगाम बनाने के लिये चमड़े का उपयोग होने लगा था । धनुष की प्रत्यन्चा भी चर्म से बनती थी ।

"अस्यादन्तोः गोभिः सनद्धापतति प्रसूता"[3]

इस वाण का फल नोक शत्रु को खोजता है और चमड़े के स्नायु से बँधे हुये धनुष से प्रेरित होकर शत्रु की ओर दौड़ता है । शतपथ में दृवि तथा भस्त्रा नामक चर्म-पात्रों की स्थिति चर्म व्यवसाय की संकेतक है । यज्ञाग्नि के धमन हेतु "धावित्र" नामक पंखे भी चर्म व्यवसायी ही बनाते थे । शतपथ में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि वाराह के चर्म से "उपानह" बनाये जाते थे -

---

1- शुक्लयजुर्वेद - 5.28

2- " - 30.8

3- " - 29.48

"अथ वाराहयाऽउपानहाऽउपमुञ्चते"[1]

मोची चमड़े का सिझाता था फिर उसे तैयार करता था । मोची का उल्लेख शुक्लयजुर्वेद में मिलता है -

"ऋभुभ्योऽजिनसन्ध साध्येभ्यो चर्मम्नम्"[2]

ऋभुओं के चर्मकार को और साध्यों के लिये मोची को बाँधे । स्वर्ण पात्रों तथा आभूषणों की बहुश: स्थिति के कारण इस व्यवसाय की स्थिति की कल्पना स्वाभाविक है । संभवत: हिरण्यकार रुक्म तथा निष्क आदि आभूषणों के अतिरिक्त स्वर्ण चषक तथा स्वर्ण अभ्रि भी बनाता था ।

"हस्त आधाय सविता बिभ्रदभ्रिहिरण्ययीम"[3]

प्रजापति ने सुनहली अभ्रि को हाथ में लेकर धारण किया । इस प्रकार वैदिक युग में छोटे-छोटे विभिन्न उद्योग प्रचलित थे ।

वाणिज्य-यातायात-

वैदिक युग के आर्थिक जीवन में यात्रा और व्यापार का महत्त्वपूर्ण योगदान है उद्योग धंधे कुछ तो सीमित आवश्यकताओं के अनुकूल होते हैं और कुछ व्यापार के लिये जैसे ग्रामों में बढ़ई हल या जुआ बनाता है तो अपने कृषक आसामी के लिये । इसे हम व्यापार नहीं कहेंगे व्यापार की क्रिया तब होगी जब वह अधिक मात्रा में हल तैयार करके विक्रय करे और धन अर्जित करे । मुद्रा का प्रयोग क्रय-

---

1- शतपथ

2- शुक्लयजुर्वेद

3- "

विक्रय के लिये होता था । धेनु भी क्रय-विक्रय का साधन थी । यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में क्रय-विक्रय का उल्लेख मिलता है -

> शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं
> चन्द्रेणाऽमृतममृतेन । सग्मे ते गोरस्मेते
> चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेवर्णः
> परमेण पशुना क्रीयसे सहस्त्रपोषं पुषेयम् [1]

अर्थात् हे सोम दीप्यमान तुम सोमरस को मैं दीप्यमान स्वर्ण के द्वारा क्रय करता हूँ । आहलादकर को आहलादकर से और अमृतस्वरूप को अमृतस्वरूप स्वर्ण से खरीदता हूँ । हे सोम बेचने वाली तेरे अधिकार में हमारी गाय और स्वर्ण होवे और हमारे अधिकार में तुम्हारे आहलादक सोम होवे (बकरे को सोम का मूल्य देने के रूप में आगे करके । हे अजा तुम तप का शरीर हो तुम प्रजापति का स्वरूप हो । हे सोम अब तुम दिव्य पशु बकरे के द्वारा खरीदे जा रहे हो । हे सोम तुम्हारे आगमन के द्वारा हम सहस्त्रशः पुत्र-पशु आदि की वृद्धि से समृद्ध होवें । क्रय-विक्रय में मुद्रा के मूल्य की इकाई संभवतः गाय थी किन्तु पण या पण्य शब्दों का प्रयोग क्रमशः मुद्रा तथा विक्रय के सूचक हैं । पणि शब्द का उल्लेख यजुर्वेद में किसी अनार्य जाति के रूप में ही हुआ है किन्तु पण धातु का अर्थ खरीदने के अर्थ में तथा पण्य का अर्थ क्रय-विक्रय[2] अर्थ में होने के कारण पणियों का व्यापार एवं वाणिज्या से सम्बन्ध होने की संभावना की जा सकती है । इस प्रकार वैदिक आर्यों के आर्थिक जीवन का इतिहास उन्हें शिष्ट सभ्य तथा सम्पन्न सिद्ध करने के लिये पर्याप्त माना जा सकता है ।

1- शुक्लयजुर्वेद 4.26

2- शतपथ - 3.3.3.।

सृष्टि तथा संवत्सर विज्ञान

प्रायः विश्व का प्रत्येक धर्मग्रन्थ सृष्टि की सीमा निर्धारित करता है। जब कि सृष्टि निस्सीम है। तदनुरूप सृष्टि जिज्ञासा भी निस्सीम होगी। ऋग्वेद काल से ही मनीषी सृष्टि के विषय में उत्सुक थे। उनका कौतूहल था कि यह जो सृष्टि है कब कैसे प्रारम्भ हुयी ? ऐसी ही सहज जिज्ञासा के फलस्वरूप दृश्यमान सृष्टि के आविर्भाव से पूर्व की स्थिति के बारे में शतपथ का विचार है कि -

नेव वा इदमग्नेऽसदासीद् नेव सदासीद्। नेव सदासीत्। आसीदिव व इदमग्ने नेवासीत् तद्धतन्मन एवास।"[1]

पहले यह जगत् न असत् सा ही थी। न सत् सा। यह जगत पहले था भी और नहीं भी था। तब केवल मन था। प्रस्तुत विचार निश्चय ही ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के विचार का पिष्टपेषण है जिसमें -

"ना सदासीन्नोसदासीत्तदानीम्"[2]

तब न असत् था न सत्" कहकर "कामस्तदग्नेमवर्त्तताधि "मनसो रेतः" प्रथम यदासीत् द्वारा मनस् तत्व के बीज को सृष्टि का आदिकरण सिद्ध किया गया है। शतपथ में उक्त स्थान पर ही मानसिक सृष्टि का भी उल्लेख है -

"ते मनसैवाधीयन्त"

किन्तु साथ ही असत् से सत की उत्पत्ति का विचार भी प्रस्तुत किया गया है।

"असद्वा इदमग्न आसीत्"[3]

1- शतपथ - 10.5 3.1

2- ऋग्वेद - 10.129.1

3- शतपथ - 6.11.1

यहाँ स्पष्टतः असत् से तात्पर्य है कि सत् की विद्यमानता जब नहीं थी तो उसकी विलोम स्थिति अर्थात् "असत्" था ।

हिरण्याण्ड सृष्टि -

शुक्लयजुर्वेद मूलतः कर्मकाण्ड ग्रन्थ है किन्तु सृष्टि सम्बन्धी विवरण शुक्लयजुर्वेद में भी उपलब्ध है । शुक्लयजुर्वेद में कहा गया है कि हिरण्यगर्भा पुरुष से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुयी है -

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य

जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीयामुतेमा"[1]

सृष्टि के पूर्व में वह प्रजापति ही हैमाण्डभाव से सर्वत्र विद्यमान था । उत्पन्न वह प्रजापति ही इस उत्पन्न भूतमात्र का एकाकी अधिपति था । उस परमात्मा ने ही इस अन्तरिक्ष लोक को धारण किया हुआ है । उसी ने इस द्युलोक को और उसी ने इस पृथ्वी को भी धारण किया हुआ है । शतपथ ब्राह्मण में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है कि "प्रारम्भ में केवल आपस तत्व का समुद्र था । आपस ने इच्छा की कि हम उत्पन्न हों । उन्होंने श्रम तथा तप किया तप करते हुये आपस से हिरण्याण्ड उद्भूत हुआ । उस समय तक संवत्सर का अस्तित्व नहीं था । यह हिरण्याण्ड वर्षभर तक परिप्लायमान होता रहा तब पुरुष उत्पन्न हुआ । यही वह प्रजापति है । प्रजापति ने उस हिरण्याण्ड को विदीर्ण किया ।[2] उक्त सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन मनु ने भी किया है ।

प्राजापत्य सृष्टि -

उपर्युक्त सृष्टि प्रक्रिया में पुरुष ही प्रजापति उक्त है -

"ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत् । स प्रजापतिः"[3]

1- शुक्लयजुर्वेद - 13.4

2- शतपथ 11.1.1.6

3- शतपथ 11.1.6.2

यद्यपि पुरुष से ही विश्व की उत्पत्ति हुयी यह न केवल यजुर्वेद अपितु सम्पूर्ण वैदिक वाड्.मय में मान्य है । इसी प्रकार ऋग्वेद का पुरुष सूक्त वैदिक सृष्टि रचना का मौलिक आधार प्रस्तुत करता है विराट् पुरुष से जगत् की उत्पत्ति बतायी गयी है।

"ततो विराऽजायत विराजो अधिपुरुषः

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः"

उस परमात्म पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ विराज से पुरुष । उत्पन्न वह शिथिल-रिक्त हो गया । तदनन्तर उसने भूमि और लोकों को बनाया । सृष्टि प्रसंग में जिस पुरुष से समग्र सृष्टि को उद्भूत माना है उव्वट ने उसे यज्ञ से उत्पन्न माना है -

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन पुरुषं जातमग्रतः[2]

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ते

प्रथम उत्पन्न उस पुरुष को यज्ञार्थ दर्भों से प्रोक्षित किया उससे देवों ने यजन किया जो भी साध्य व ऋषिजन थे । उस पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ श्रोत से वायु और प्राण मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ ।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत्[3]

श्रोताद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत्"

उस पुरुष के नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ शिर से द्यौ उत्पन्न हुआ । पैरों से भूमि दिशाएँ श्रोत से उत्पन्न हुयी । इस प्रकार को लोकों को कल्पित किया था-

नाभ्या आसीदन्तरिक्ष शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत

पदभ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रातथा लोकों अकल्पयन्[4]

1- शुक्लयजुर्वेद- 31. 5

2- शुक्लयजुर्वेद - 31. 9

3- " " - 31. 12

4- " " - 31. 13

ऋग्वेद के विख्यात पुरुष-सूक्त में उक्त भूत भविष्य नियामक, विराट् पुरुष सविता देवता की उपाधि प्रजापति में संक्रमित होता हुआ शतपथ में किस प्रकार आदि कारण रूप प्रजापति बन गया ? यह इतिहास अंधकार में है । किन्तु सृष्टि प्रक्रिया से प्रजापति के सम्बन्ध की जितनी स्पष्ट व्याख्या शतपथ में उपलब्ध है उतनी अन्यत्र नहीं । प्रजा उत्पन्न करना ही प्रजापति का प्रजापतित्व है । अतः सृष्टि से प्रजापति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध दिखाया गया है "प्रारम्भ में प्रजापति अकेले ही था उसने कामना की कि मैं प्रजावान् हो जाऊँ । उसने श्रम तथा तप किया तप के फलस्वरूप तीनों लोक उत्पन्न हुए पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्यौ । उसने इन तीनों लोकों को अभितप्त किया जिनसे तीनों ज्योति अग्नि, वायु तथा सूर्य उत्पन्न हुई । इन तीनों को तपाने से तीनों वेद उत्पन्न हुए । ऋग्वेद अग्नि से वायु से यजुर्वेद तथा सूर्य से सामवेद"[1] शुक्लयजुर्वेद में भी इसका वर्णन मिलता है ।

"स आशिषा द्रविणमिच्छामि
प्रथमच्छदवरा आविवेश

वह अपनी इच्छा "एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेम" इति" करके विश्वसृष्टिरूप धन की कामना करता है और वही सृष्टिरूप से इस ब्रह्माण्ड को सर्वप्रथम छादन करने वाला है । वही सृष्टि भाव में परिणित होता है । वह परमात्मा सृष्टि करके पुनः उस सृष्टि में विद्यमान अन्य भूत मात्र में प्रविष्ट हो जाताहै ।

श्रम तथा तप के महत्त्व को बारम्बार प्रदर्शित करने का अभिप्राय इस तथ्य का उद्घाटन करना है कि कर्तव्य के बिना किसी भी प्रकार की सृष्टि असंभव है । ऋग्वेद में जहाँ ब्राह्मणस्पति द्वारा शिल्पी की भाँति जगत् के निर्माण का उल्लेख है यही कर्तव्य भाव प्रेरक है ।

पृथिवी -

शुक्लयजुर्वेद में प्रजापति को ही पृथिवी को उत्पन्न करने वाला भी कहा गया है -

मा मा हिंसोज्जनिता यः पृथिव्या
यो वा दिवं सत्यधर्मा व्यानट्[1]

जो पृथिवी का उत्पादक है अथवा जिस जगत्पालनादि सत्यधर्मों वाले प्रजापति ने इस द्युलोक को व्याप्त किया हुआ है । या जिसने इस द्युलोक के सूर्यादि लोकों को बनाया । शतपथ मे भी देवों के माध्यम से प्रजापति को ही पृथिवी को उत्पन्न करने वाला कहा गया है- "प्रजापति" के द्वारा जिन देवों की सर्वप्रथम उत्पत्ति हुयी उन देवों ने राक्षसों से स्वयं को बचाने के लिये पृथिवी बनाई कारण यह था कि यहाँ वे स्वयं को स्वयं से छिपा सकने में समर्थ थे -

"आत्माऽऽत्मानं गोप्स्यतीति"[2]

संभवतः मानव भी पृथिवी के इस गुण से प्रभावित है । अतः वह स्वयं को (अपने दुर्गुणों को) स्वयं (अपनी आत्मा से) ही छिपा लेता है । अथवा अपने शुद्ध चैतन्य-रूप को अपने अज्ञान से छिपा लेता है । पृथिवी परिमण्डल अर्थात् गोलाकार कही गयी है । अतः वेदी पृथिवी की नाभि है -

"इडायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या[3]
अधि जातवेदो निधीमहन्मग्ने हव्यायवोढवे"

हे जातवेद स अग्नि यजन भूमि के स्थान और पृथिवी के नाभि वेदी में हम तुम्हें हवि के वहनार्थ निहीत करते हैं । पृथिवी पुष्कर पर्ण है । पृथिवी के चारों ओर का आपस-तत्व पुष्कर है । तथा उसमें स्थित यह धरती पर्णवत् है -

---

1- शुक्लयजुर्वेद 12. 102
2- शतपथ - 6. 5. 4. 1
3- शुक्लयजुर्वेद - 34. 15

"अपां पृष्ठमसियोनिरग्ने समुद्रमभितः पिन्वमानम्"[1]

हे कमल पत्र तुम जलों का पृष्ठ हो तुम अग्नि के निमित्त लायी गयी मिट्टी या चिति के कारण भूत हो । शतपथ में भी कहा गया है -

"आपो वै पुष्करम् तासामियं पर्णम्"[2]

जल में कमलपत्र के समान पृथिवी की कल्पना वस्तुतः वैदिक मनीषियों के मस्तिष्क की बहुमूल्य एवं मनोहर सृष्टि है । पृथिवी को मर्त्यलोक भी कहा गया है ।

दिशाएँ -

पृथिवी की उत्पत्ति के उपरान्त दिग्भ्रम समाप्त हो गया क्योंकि दिशाएँ निश्चित हो गयीं थी दिशाओं की संरचना के बारे में शुक्लयजुर्वेद में संकेत उपलब्ध है । दिशाएँ आठ है -

"अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्या"[3]

सुनहली किरणों वाला सूर्य पृथिवी से सम्बन्धित आठों दिशाओं को प्रकाशित करता है । प्राची देवों की दिशा है -

"राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवा अधिपतयो"[4]

हे इष्टके शोभमाना तुम प्राची दिशा के हो तुम्हारे पालन देवता वसुगण है ।

"विराऽसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते" देवा अधिपतयः"[5]

हे इष्टके विशेष रूप से शोभमाना तुम दक्षिण दिशा हो रूद्रगण तुम्हारे अधिपति

1- शुक्लयजुर्वेद - 13.2
2- शतपथ - 7 5 1.8
3- शुक्लयजुर्वेद - 34.24
4- " " - 15.10
5- " " - 15.11

देवता है -

"सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा अधिपतयो"[1]

हे इष्टके सम्यक् राजमाना तुम पश्चिम दिशा हो । आदित्यगण तुम्हारे अधिपति देवता है - "स्वराडस्युदीची दिङ्‌ मरुतस्ते देवा अधिपतयः"[2]

हे इष्टके स्वयं ही शोभमानातुम उत्तर दिशा हो मरुद्गण तुम्हारे अधिपति देवता है ।

"अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवा अधिपतयो"[3]

हे इष्टके तुम सर्वपालनकर्त्री उर्ध्वदिशा हो विश्वेदेवाः" तुम्हारे अधिपति देवता है । एक स्थल पर वर्णन मिलता है -

विश्वा आशा दक्षिणसद्विश्वान्देवानयाडिह"[4]

सब दिशाएँ दक्षिण दिशा में स्थित होने वाली हैं क्योंकि अध्वर्यु ने दक्षिण दिशा में ही बैठकर सब देवों का यजन किया है ।

संवत्सर -

शतपथ में समय की सामान्य व्याहृति काल है । ऋग्वेद के अनुसार काल की वार्षिक इकाई को संवत्सर कहा गया है ।

"संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः"[5]

शुक्लयजुर्वेद में भी संवत्सर में बारह मास पाँच ऋतुओं का अर्थ ही अभिप्रेत है -

द्वादशमासाः पञ्चऋतवः संवत्सर इति तद्रूपासि"[6]

1- शुक्लयजुर्वेद - 15. 12

2- " " - 15. 13

3- " "- 14. 23

4- " " -

5- ऋग्वेद - 7. 103. 1

6- शुक्लयजुर्वेद - 14. 23

शतपथ में संवत्सर का प्रजापति तथा यज्ञ से भी समीकरण किया गया है । संवत्सर का निर्वचन शतपथ में निम्न प्रकार से दिया गया है -

"सऽऐक्षत प्रजापतिः । सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति स सर्वत्सरोऽभवत सर्वत्सरो ह वै नामैतद्यत्संवत्सर इति"[1]

अर्थात् प्रजापति ने देवों द्वारा उत्पन्न सब कुछ {सर्व} चुराकर छिपा लिया {अत्सारिषम्} अतः सर्वत्सर कहलाया किन्तु परोक्ष में वह संवत्सर कहलाने लगा । शुक्लयजुर्वेद मे संवत्सर तथा धाता {नियामक} रूप प्रजापति के लिये "संवत्सर में बारह मास होने के कारण द्वादशकपाल पुरोडाश का विधान है ।

शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष -

शुक्ल तथा कृष्ण पक्षों को शुक्लयजुर्वेद में क्रमशः यव तथा अयव भी कहा गया है -

सजूरब्दो अयवोभिः "[2]

अयवो {अर्धमासों} और यवों {मासों} के साथ जलदायी संवत्सर समान प्रीति है मास का प्रारम्भ शुक्ल पक्ष से ही माना जाता था -

पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवास्ते"[3]

मास के कृष्णपक्ष को "दर्श" या अमावस्या कहा गया है । अमावस्या का निर्वचन निम्न प्रकार से प्राप्त है ।

"ते देवा अब्रुवन अमा वै नोऽद्य वसुर्वसति"[4]

1- शतपथ - 11. 1. 6. 12

2- शुक्लयजुर्वेद - 14. 74

3- " " - 14. 26 महीधर भाष्य

4- शतपथ - 1. 6. 4. 3

अर्थात् आज के दिन वस हमारे समीप {अमा} वसता है । अतः अमावस्या नाम पड़ा । अमावस्या का द्योतक "दर्श" शब्द अधिकतर पूर्णमास के साथ यौगिक रूप में आता है । अमावस्या के लिये यह भी कहा गया है कि इस दिन सूर्य चाँद को ग्रसकर उदित होता है । अतः यह प्रतीत होता है कि सूर्य में चन्द्रमा के प्रवेश का सिद्धान्त माना जाता था ।

अहोरात्र -विभाजन -

शुक्ल तथा कृष्ण पक्षों के अतिरिक्त दिन तथा रात में काल-विभाजन की प्रक्रिया भी परिलक्षित है । दिन को अह तथा रात्रि को नक्तम् कहा गया है । शुक्ल यजुर्वेद में दिन की समाप्ति के बाद रात्रि होने की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है-

"सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः "[1]

सूर्य अकेला ही आकाश में संचरण करता है चन्द्रमा पुनः उत्पन्न होता है । पूर्वाह्न दिन का पूर्व भाग तथा अपराह्न परवर्ती भाग था । अपराह्न के अन्तिम भाग को सायं या सन्ध्या कहा जाता था । दिन रात कालपुरुष के दो पहरेदार कहे गये हैं - "अहोरात्रे परिवेष्ट्रो "[2]

शुक्लयजुर्वेद में एक स्थल पर रात्रि की स्तुति करते हुये कहा गया है -

"आ रात्रि पार्थिव रजः पितुर प्रायि धामभिः "[3]

दिवः सदांसि बृहती वितिष्ठस आत्वेष वर्तते तमः "

हे रात्रि पालक या उत्पादक अन्तरिक्ष के स्थानों के साथ तुमने पार्थिव लोक को

1- शुक्लयजुर्वेद - 23.46

2- शतपथ - 11.2.7.5

3-

भी सर्वथा आपूरित कर दिया है । अथवा पोषक सूर्य के काले तेजों के द्वारा हे रात्रि तुमने पृथिवी लोक को भर दिया है । हे महति तुम द्युलोक के स्थानों को भी अभिव्याप्त कर रही हो । अन्धकार अपनी पूर्ण प्रदीप्ति के साथ सर्वत्र वर्तमान हो रहा है । शतपथ में मुहूर्त शब्द भी समय को एक लघु इकाई के रूप में प्रयुक्त है ।[1]

नक्षत्र -

काल-विभाजन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नक्षत्रों से था । शुक्लयजुर्वेद में कई स्थल पर नक्षत्रों का संकेत मिलता है परन्तु इसका विस्तृत वर्णन हमें शतपथ से ही प्राप्त होता है -

"वाता वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः"

वायु मन और 27 नक्षत्र गन्धर्व हैं । शतपथ कालीन आर्य नक्षत्र-विद्या में पारंगत प्रतीत होते हैं । नक्षत्र का शक्तिरहित (न + क्षत्रम्) के अर्थ में किया गया है। तत्कालीन विद्वानों का विचार है कि पहले ये नक्षत्र शक्तिपुंज थे । जैसा कि यह सूर्य है । किन्तु ज्यों हि सूर्य उदित हुआ इसने नक्षत्रों से वीर्य का आदान कर लिया । आदान करने के कारण ही सूर्य आदित्य कहलाया तथा क्षत्र-रहित हो जाने के कारण नक्षत्र नक्षत्र कहलाये"[2] ।

नक्षत्रों के सम्बन्ध में कहा गया है कि 27 नक्षत्र हैं तथा 27 ही उप नक्षत्र ये कुल 720 हैं । तथा इनके अतिरिक्त 36 और है ।[3]

उपर्युक्त नक्षत्रों में से कतिपय का विवरण शतपथ में मिलता है -

"योऽसौ वैशाखस्यामावास्या तस्यामादधीत सा रोहिण्या सम्पद्यतऽआत्मा"[4]

1- शतपथ - 2. 1. 218
2- शतपथ - 3. 1. 2. 17
3- " - 10. 5. 4. 5
4- " - 2. 1. 2.

वैशाख को अमावस्या में आधान करें वह रोहिणी नक्षत्र होता है । मृगशिरा एवं रोहिणी नक्षत्रों के लिये शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण का प्रजापति सम्बन्धी आख्यान महत्वपूर्ण है । जिसमें प्रजापति के निषिद्ध कर्म करने के कारण भूत्वत [रुद्र] देव के द्वारा " प्रजापति को वाण विद्ध करने की कथा है । जहाँ मृग रूपी प्रजापति मृगशिरा नक्षत्र बना तथा पुत्री रोहिणी बन गयी । नक्षत्रों के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण उल्लेख कृतिका नक्षत्रों का है । जिनके लिये वर्णित है कि कृतिकाएँ पूर्व दिशा से च्युत नहीं होती जब कि अन्य सभी नक्षत्र च्युत हो जाते हैं -

"एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते"[1]

कृतिका नक्षत्रों के पूर्व दिशा से च्यवित न होने सम्बन्धी प्रस्तुत प्रसंग ने इतिहासज्ञों को वेदों के काल निर्णय को प्रमाणित करने में भी प्रचुर सहायता प्रदान की है ।

ऋतु -

सूर्य के उत्तरायण दक्षिणायण भ्रमण के द्वारा ऋतु का निर्माण होता है । इस संवत्सर रूपी काल-चक्र को ऋतुओं मासों तथा दिन रात में विभक्त करने वाला सप्तरश्मियों से युक्त सूर्य है । जिसका ऋग्वेद में निम्न रूपेण यशोगान किया गया है -

"सप्त युंजन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनाम
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्व यत्रेमा विश्वाभुवनाधितस्थः" ।[2]

सूर्य की उक्त त्रिनाभि तीन ऋतुओं ग्रीष्म, वर्षा तथा हेमन्त की प्रतीक है । शुक्ल-यजुर्वेद में इन तीनों के लिये एक जगह त्रियुग की व्याहृति भी मिलती है ।

"या ओषधि पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा"[3]

1- शतपथ - 2. 1. 2. 2

2- ऋग्वेद 1-164.2

3- शुक्लयजुर्वेद- 12. 75

अर्थात् पूर्वकाल में तीनों युग लेकर सब ऋतुओं के निमित्त जो-जो ओषधियाँ उत्पन्न हुयी थी । त्रियुग से यहाँ बसन्त वर्षा तथा शरद् अर्थ अभिप्रेत है । शतपथ ने ऋतुओं को द्विधा भी विभक्त किया है जिसके विवरण की रूपरेखा निम्न प्रकार है -

	देवों से सम्बन्धित	पितरों से सम्बन्धित
ऋतु	बसन्त ग्रीष्म, वर्षा	शरद हेमन्त, शिशिर
पक्ष	शुक्ल पक्ष	कृष्ण पक्ष
अहोरात्र	दिवस	रात्रि
पूर्वापराह्न	पूर्वाह्न	अपराह्न
दिक्	उत्तर दिशा	दक्षिण दिशा

उपर्युक्त विभाजन छः ऋतुओं की स्थिति का द्योतक है जिसका शतपथ में अन्यत्र भी समर्थन मिलता है ।[1] कहीं कहीं पाँच ऋतुओं का भी उल्लेख है ।[2] यहाँ संभवतः हेमन्त और शिशिर का एकीकरण कर दिया गया है । तीन से पाँच संख्या में ऋतु परिवर्तन को जिम्मर महोदय आर्यों की पूर्व दिशा की ओर प्रगति का सूचक मानते है[3] । अग्नि रूपी प्रजापति ने वसन्त ऋतु को अपने श्वास, प्रश्वास से, ग्रीष्म को मनस से वर्षा को चक्षुओं से शरद से श्रोतों से तथा हेमन्त को वाक् द्वारा निर्मित किया । वसन्त ऋतु के दो मास चैत्र तथा वैशाख को मधु तथा माधव भी कहा जाता था । ग्रीष्म के लिये निबाध तथा समा शब्द भी प्रयुक्त हुये है । वर्षा ऋतु को "प्रावृष्" भी कहा जाता था । इस ऋतु के दो मास श्रावण तथा भाद्रपद क्रमशः नभस तथा नभस्य भी कहलाते थे ।

1- शतपथ - 1.7.2.21, 2.4.2.24

2- " " - 3.1.45

3- जिम्मर के विचार के लिये द्रष्टव्य वैदिक इंडेक्स भाग 1 पृ0 123

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृत"[1]

सावन भादों वर्षा सम्बन्धी ऋतु के महीने हैं । आश्वयुज तथा कार्तिक के मासों में शरद् ऋतु का आगमन हो जाता था ।

इष ऊर्जश्च शारदावृत्"[2]

क्वार कार्तिक शरद् ऋतु के मास हैं हेमन्त ऋतु को ऋतुओं में स्वाहाकार अर्थात् अंतिम कहा गया है । हेमन्त सम्पूर्ण प्रजा को वंशगत बना लेता है ।

सृष्टि एवं संवत्सर विज्ञान सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण निश्चय ही वैदिक कालीन मनीषियों की सूक्ष्म एवं गहन निरीक्षण शक्ति का द्योतक है -

शुक्लयजुर्वेद में विज्ञान

प्राण शक्ति ही वैदिक विज्ञान की मूल धारा है । प्राण शक्ति इस विद्युत शक्ति की अपेक्षा अत्यंत व्यापक है । आधुनिक विज्ञान में हाइड्रोजन आक्सीजन आदि पदार्थ विज्ञान के मौलिक तत्व के रूप में स्वीकार्य हैं । वैदिक विज्ञान में इन सबकी विराड के रूप में व्याख्या की गयी है । "इन्द्रिय ज्ञान" से जो भी ज्ञात हो सकता है वो सब विराड् है । यज्ञ ही विराड् का उत्पादक है ।

विद्युत विज्ञान -

विद्युत उत्पन्न होती है इसका वर्णन यजुर्वेद में हुआ है -

"अप्स्वग्न सधिष्ठव सौषधिरनु रूध्यसे गर्भे सन् जायसे पुनः"[3]

1- शुक्लयजुर्वेद - 14. 15

2- शुक्लयजुर्वेद - 14. 16

3- " " - 12. 36

हे अग्ने जल में तुम बसते हो । जल के साथ तुम बीज में प्रवेश करके औषधि लताओं के साथ उगते बढ़ते हो । इस प्रकार उन-उन लता गुल्मादि के माध्यम से पुनः प्रकट होते हो । यहाँ पर जल में बसने वाले अग्नि से विद्युत का संकेत किया गया है । अन्यत्र भी विद्युत का संकेत किया गया है ।

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे"[1]

नमस्कार प्राप्त होवे गर्जन के लिये नमस्कार प्राप्त होवे । विद्युत किस प्रकार उत्पन्न की जाती थी इसका संकेत भी शुक्लयजुर्वेद में मिलता है -

पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने ।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत"[2]

हे अग्ने तुम पशुहितकारी हो । तुम समस्त विश्व का धारण पोषण करने वाले हो । सर्वप्रथम तुम्हें अथर्वा ऋषि ने मथकर प्रकट किया था । उपरोक्त मन्त्र से यह संकेत मिलता है कि जलों के मथने से विद्युत उत्पन्न होती है । आज भी बड़े-बड़े बाँधों से विद्युत का उत्पादन इसी तरीके से होता है ।

<u>वृष्टि विज्ञान -</u>

शुक्लयजुर्वेद में उल्लिखित है कि जब-जब हम चाहते है । तब-तब वृष्टि होती है -

"निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु[3]

समय-समय पर कामना करने पर पर्जन्य पानी बरसावे । एक स्थल प्रशंसा करते हुये कहा गया है कि -

---

1- शुक्लयजुर्वेद - 11.32

2- शुक्लयजुर्वेद - 11.32

3- शुक्लयजुवेद - 22.22

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वाक्षित्वा उन्नयामि"[1]

हे आप हम तुम्हें कृषि हित के लिये समुद्र से लाते हैं । शतपथ के अनुसार वर्षा ऋतु का महत्व उल्लेखनीय है । जो सम्पूर्ण ऋतुओं का प्रतिनिधित्व करती है -

" वर्षा वै सर्व ऋतवः ....वर्षा ह त्वेव सर्वेषां ऋतुनां रूपम् 9

इसी स्थल पर ब्राह्मणकार का कथन है कि "वर्षाद्विर्षा" अर्थात् वर्ष से ही वर्षा बनाहै । अतः वर्षा ऋतु पूरे वर्ष का प्रतीक है । वर्षा ऋतु में प्रचुर वर्षा होती थी। फलस्वरूप वर्ष प्रसन्नता से व्यतीत होता था । यही कारण है कि वर्षा ऋतुओं में सर्वोपरि मानी जाती थी । और वृष्टि के बिना पृथिवी पर सृष्टि का अस्तित्व संभव नहीं है ।

मनो विज्ञान -

मानव मन और मानव व्यवहार के सभी पक्षों का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है । अतएव इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से मन और मानसिक प्रक्रियायों का विश्लेषण किया जाता है ।

मन का स्वरूप -

मनस् शब्द ऋक्-संहिता में ढाई सौ से अधिक बारे प्रयुक्त हुआ है । दूसरी संहिताओं में भी यह बहुशः प्रयुक्त है । चेतना की संकल्प शक्ति का नाम मन है । मन ही संकल्पो द्वारा संसार की रचना करता है । इसकी संकल्प शक्ति से पूर्णतया परिचित वैदिक ऋषियों ने इसके स्वरूप की व्याख्या की है -

"येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु "[2]

1- शतपथ - 2. 2. 3. 7

2- शुक्लयजुर्वेद- 34. 4

जिस अमर मन के द्वारा यह भूत-भविष्य वर्तमान सब जगत् धारित किया हुआ है और जिसके द्वारा सात होताओं वाला यज्ञ विस्तारित किया जाता है। वह मेरा मन हे परमात्मन शुभ संकल्पो वाला ही होवे। अथर्ववेद में मन को विलक्षण को स्वीकार करते हुये प्रश्न किया गया है -

"केनास्मिन विहितं मनः"[1]

अथर्ववेद में मन को दश इन्द्रियों के बाद ग्यारहवें स्थान पर रखा गया है -

"यद्येकादशोऽसि सोऽसौदकोऽसि"।[2]

मन हृदय चेतस् और चित्त -

मन्त्रों में मन के साथ हृदय का उल्लेख हुआ है। यजुर्वेद ने स्पष्ट रूप से मन को "हृत्प्रतिष्ठ" बताया गया है और अथर्ववेद ने इसे "हृदिश्रितम" कहा है। अतः वैदिक धारणा मे अन्तःकरण के इन दोनों भेदों में से हृदय यदि मन का अधिकरण रूप है तो मन चेतना का सूक्ष्म रूप है। मन्त्रों में चेतस् और चित्त शब्दों का प्रयोग मन के साथ हुआ है। जो इनके अर्थभेद का सूचक है।

"यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च"
यज्ज्योतिरन्तरमृत प्रजासु"[3]

जो प्रज्ञान है जो चित्त है और जो धृति है प्रजाओं में जो आन्तर अमृत संज्ञक ज्योति है। अधिकांश भाष्यकारों के द्वारा चित्त से मन या अन्तःकरण का ही अर्थ लिया गया है। चित्त के समान ही चितस् शब्द का सम्बन्ध भी चिन्तन करना जानना समझना क्रियाओं से है।

1- अथर्ववेद - 10. 1. 19

2- " " - 5. 16. 11

3- शुक्लयजुर्वेद- 34. 3

"सामान्यप्रतिप्रतिचेत:"[1]

इस प्रकार वैदिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि में मन हृदय और चित्त अन्त:करण के वे रूप हैं जो स्वरूपत: समान प्रतीत होते हुये भी तत्वत: पृथक है ।

मन की गति और शक्ति -

मानव मन की बहुत ही अद्भुत शक्ति और तीव्र गति है । मन परम स्थान में स्थित और ब्रह्म द्वारा अभिरचित बताया गया है -

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति दूरगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु"[2 1]

दिव्य शक्तियों से युक्त जो मन जाग्रत मनुष्य से चलकर दूर व्यक्त होता है । सोते हुये मनुष्य का भी वही मन उसी प्रकार दूर जाता है । दूर जाने वाला ज्योतियों में एक ही ज्योति जो मेरा मन है वह शुभ संकल्पों वाला होवे । इसीलिये मन को "जविष्ठम" "दूरगमम्" कहा गया है । मन की अस्थिरता के विषय में ऋषि की जिज्ञासा है ।

कथं न रमते मन:"

मन की गति की तीव्रता यही है कि वह एक के बाद एक बहुत विषयों में जा सकता है -

सभी कामों का आधारभूत मन -

मानव में मन की महत्ता सर्वोपरि है । वही समस्त कर्मों का आधार है । उसके बिना एकाग्र हुये तो कोई भी कर्म सम्भव नहीं है मन की विमुखता कर्मों

---

1 शु० - 34-1

की निष्फलता का हेतु है । मानसिक संताप से बचने के लिये असन्तप्त हृदय की अभिलाषा की गयी है ।

"अरग्तापं मे हृदयं"[1]

इस प्रकार शरीर में मन वह ज्योतिर्मान शुभ तत्व है जो व्यापक और सर्वप्रकाशक है ।

पर्जन्य विज्ञान -

जल विज्ञान और पर्जन्य विज्ञान के सम्बन्ध में कई मन्त्र हैं । शुक्ल-यजुर्वेद के एक मन्त्र में-

"नमो मेध्याय"[2]

ऐसा प्रयोग प्राप्त होता है इसका तात्पर्य यह है कि गर्भ स्थापक पर्जन्य रूप मेध व वर्षणशील जल रूप मेध के भेद के विषय में और उनके वर्षणकाल के विषय में वैदिक विद्वान् जानते थे । वर्षा की योग्यता रखने वाले जलद् संज्ञक मेध है इसी के समान वारिद पयोद, वारिवाह जलधर नाम हैं ।

ओषधि विज्ञान -

इस जगत् में समग्र प्राणियों के रोग निवारण के लिये सुख प्रदान करने के लिये ओषधि की व्यवस्था आदि काल से है । यजुर्वेद मूलतः कर्मकाण्डीय ग्रन्थ है किन्तु ओषधि के विषय में अनेक उपयोगी एवं वैज्ञानिक तथ्यों की उपलब्धि शुक्ल-यजुर्वेद में होती है । शुक्लयजुर्वेद के आरम्भ में कामना की गयी है -

---

1- अथर्ववेद - 16.3.6

2- शुक्लयजुर्वेद- 3.58

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजं ।

सुखं मेषाय मेष्यै"।[1]

हे रुद्र तुम स्वयं ओषधि रूप हो अतः गाय अश्व या पुरुष के लिये तुम भेषज प्रदान करो । हमारे भेड भेड़ो के लिये सुख दो । शुक्लयजुर्वेद के दसवें अध्याय में राजसूय के अंत में वर्णित चरक सौत्रामणि यज्ञ का सम्बन्ध चरका ध्वर्युओं की विधि से है । रोगोपचार से सम्बन्ध होने के कारण ही यह चरक सौत्रामणि यज्ञ है । राजसूय के अंत में इसके अनुष्ठान का उद्देश्य राजसूय यज्ञ में अधिक सोमपान से उत्पन्न विकारों का शमन ही है । शुक्लयजुर्वेद की मान्यता है कि रोगों की उत्पत्ति नाना प्रकार के पीड़ा पहुँचाने वाले राक्षसों एवं शपथ खाकर भी विपरीत किये कर्म के कुफलस्वरूप होती है -

"मुन्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत"[2]

शपथ खाकर भी विपरीत किये गये कर्म के कुफलस्वरूप रोगों से मुझे ओषधियाँ बचावें। वनस्पति में ही ओषधिगुण निहित होते हैं । वनस्पति सभी विकारों का नाश करती हैं । शान्ति देती है सुख देती हैं-

"शमिता नो वनस्पतिः"[3]

ओषधियों से सभी रोगों को दूर करने की प्रार्थना की गयी है -

"नाशयित्री बलासस्यार्श उपचितामसि अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी"[4]

हे गृहीत ओषधे तुम वातरोग की नाशिका हो बवासीर की नाशिका हो और

1- शुक्लयजुर्वेद - 3.58

2- " - 12. 90

3- " - 21.21

4- " - 12. 97

शोथ-फोड़े आदि की भी नाशिका हो । हे ओषधे तुम मुखक्षत या मन्दाग्नि की नाशिनी हो और क्या अधिक तुम शतशः यक्ष्मभेदों को भी विनष्ट करने वाली हो। इस प्रकार ओषधि में भेषज गुण निहित है ।

जल जहाँ एक ओर स्वास्थ्य के लिये प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ उपहार है वहीं चिकित्सा के साधन के रूप में जीवनदायी तत्व युक्त होने के कारण बेमिसाल है । चारों संहिताओं में जल के विभिन्न गुणों का उल्लेख किया गया है । जन्म से लेकर लय पर्यन्त जो उपयोगी होता है उसको संज्ञा जल है । जल शान्ति देने वाला है ।

शमु सन्त्वापः [1]

शरीर ही नहीं जब मन भी बेचैन होता है । तब जल पीने पर मनुष्य थोड़ा आश्वस्त हो जाता है । यह अनुभवजन्य सत्य है - जल मीठा भी है ।

मधुमती आपः [2]

किन-किन रोगों में जलोपचार से शान्ति सम्भव है इसका विवरण भी यत्र-तत्र पाया जाता है । जल में जो आरोग्यवर्धक रोग-निवारक तत्व रस है उसका उल्लेख भी संहिताओं में मिलता है -

यो वः शिवतमो रसस्तस्यं

भाजयतेह नः उशतीरिव मातरः

हे आपः तुम्हारा जो अत्यंत सुखकर सार है । उसी का तुम हमें यहाँ भाजन बनाओं। जैसे कामयमाना माताएँ स्वपुत्र को स्तन्यपान कराती हैं । जल से शरीर की शुद्धता होती है और शरीर की स्वच्छता से आत्मा की प्रगति होती है । अग्नि मे भी भेषज गुण निहित है ।

1- ऋग्वेद - 7.35.8

2- शुक्लयजुर्वेद- 11.38

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि उस वैज्ञानिक साधन विहीन युग में केवल सूक्ष्म निरीक्षणों द्वारा इतने अधिक निष्कर्षों का यथातथ्य चित्रण उनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है ।

पशुपक्षी तथा वनस्पति जगत्

पशु पक्षी तथा वनस्पति- जगत् के अध्ययन का महत्त्व किसी मानव समूह के सांस्कृतिक अध्ययन से संदर्भित है । विशेषत: एक ऐसे युग के सांस्कृतिक अध्ययन में जिसमें प्रकृति और पशु- पक्षी जगत् मानव के पड़ोसी ही नहीं वरन् उसके अभिन्न सखा सहचर थे तथा सारा जीवन निसर्ग- केन्द्रित था । पशु- पक्षी तथा वनस्पति जगत का अध्ययन निश्चय ही तत्कालीन समाज के सांस्कृतिक अध्ययन की आधारभित्ति का काम देगा ।

शतपथ ब्राह्मण में पशु शब्द संज्ञा तथा विशेषण दोनों ही रूपोंके में प्रयुक्त हुआ है । विशेषण रूप में पशु पाँच है-
अश्व, गो, अवि, अज तथा मनुष्य जिन्हें यज्ञीय पशु माना गया है । मनुष्य को पशु मानने में संभवत: आहार निद्रा भय मैथुनन्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्" में अन्तर्निहित भर्तृहरि की विचारधारा वाला भाव विद्यमान है । पशु शब्द का निर्वचन शतपथ में निम्न रूपेण पाया जाता है-

स एतान पंचपशूनपश्यत् । यदपश्यत्तस्मादेते पशव: तेष्वेतमपेश्यत् तस्मादेते पशव:"[1]

अर्थात् प्रजापति ने इन्हें देखा (अपश्यत्) तथा इन्होने प्रजापति को स्वयं में देखा इसलिए इन्हें पशु विशेषण दिया गया । पशु का शतपथ में अन्न से साम्य स्थापित किया गया है ।

---

1. शतपथ 6.2.14

" पशवो ह्यन्नम्[1]" अन्नं पशव:[2]"

संभवत: इससे यह तात्पर्य है कि प्रजापति ने इन पशुओं में " अन्नत्व" को देखा अत: ये " पशु" सत्ता से अभिहित किए गए । प्रजापति द्वारा उत्पन्न प्रजा का विभाजन अन्य प्रकार से भी द्रष्टव्य है । इस दृष्टि से प्रजा के दो भेद- उभयदन्त तथा अन्योदन्त है इस प्रकार घोडो गधों आदि की भेड़ बकरी तथा गाय आदि से विभेदात्मक व्याकृति प्राप्त होती है । इनमें मनुष्य उभयदन्त श्रेणी में आता है । द्विपाद तथा चतुष्पाद भी पशुओं के विभाजन का प्रकार है । जहां मनुष्यों को द्विपाद पशु तथा पशुओं में प्रथम प्रदर्शित किया गया है ।

इमं महिसी द्विपादं पशु सहस्त्राक्षो मेधाय चीयमान:[3] "

हे अग्ने हिरण्यशकल रूप सहस्त्रचक्षु तुम यज्ञ के लिये चयन किये जाते हुये इस दो पैर वाले पुरूष पशु को हिंसित मत करना । यह भी उल्लेख हैं सौ वर्ष तक जीवित रहने वाला एकमात्र पशु मनुष्य है -

शतायुष कृणुहि चीयमान:[4] "

तुम इस यजमान को सौ वर्षकी आयु वाला बनाओं अनेक स्थल में पर चौपाये ही

1• शतपथ 3•7•1•20

2• शतपथ 8•3•2•10

3• शुक्लयजुर्वेद 13•48

4• शुक्लयजुर्वेद 14•41

पशु है समीकरण व्यवहृत हुआ है चतुष्पद शब्द का पशुओं के लिये संज्ञा रूप प्रयोग भी प्राप्त है -

चतुष्पात्पाहि दिवो वृष्टि मेरय[1]

चार पैरों वाले गवादि पशु की रक्षा करो ये चतुष्पद पशु एक शफ तथा द्विशफ रूप में भी विभक्त किये गये हैं। देह रचनाक्रम में पशुओं की पूंछ सबसे अन्त में निर्मित होने की चर्चा है। देह- रचना जन्य उपर्युक्त प्रभेदों के अतिरिक्त पशुओं के दो भेद ग्राम्य तथा अरण्य निवासजन्य भी हैं। जिनका क्रमशः पालतू तथा वन्य अर्थ अभिप्रेत है इन दोनों प्रकार के पशुओं की संख्या समान है -

"सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्या[2]"

अतः यहां पर ग्राम्य तथा अरण्य विभाजन को दृष्टि में रखते हुए शुक्लयजुर्वेद का तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है।

ग्राम्य पशु-

शुक्लयजुर्वेद में उल्लिखित ग्राम्य पशु संभवतः गाय, घोडा, भेड़ बकरी, गधा ऊँट तथा कुत्ता थे किन्तु सर्वाधिक महत्ता गो की प्रदर्शित की गई है-

गाय -

तत्कालीन कृषि प्रधान समाज में गाय तथा गोधन के महत्व की सर्वोपरिता सर्वविदित है। यज्ञ दक्षिणा के रूप में सहस्त्र गायों तक के दान का उल्लेख है। दक्षिणा

---

1. शुक्लयजुर्वेद 13.48

2. शतपथ 2.3.4.1

के रूप में सर्वप्रमुख देय गाय थी । इसलिये गाय के पर्याय के रूप में " दक्षिणा " शब्द का प्रयोग किया जाने लगा ।

" चिदसि मनोऽसि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्य"[1]

हे सोम को खरीदने वाली तुम्ही हमारा चित्त हो मन हो और तुम्ही धारण शक्ति हो हे गाय तुम दक्षिणा हो यज्ञ में दक्षिणा रूप में देय द्रव्य स्वरूपा हो । "गो" की बहुमुखी उपयोगिता के कारण मानव जीवन से इसका अभिन्न सम्बन्ध था। क्रिया विशेष तथा रूप- विशेष की दृष्टि से गाय के विभिन्न नाम दृष्टिगत होते है । दुधमुहां बछडा " अतृणाद" तथा दूध देने वाली गाय धेनु नाम से पुकारी जाती थी । शतपथ में वर्णन है कि " धेनु ही मां है जो मनुष्यों की सभी इच्छाओं को पूरा करती है तथा मानवों का भरण-पोषण करती है[2]। इसके अतिरिक्त पृषती रोहिणी तथा श्यामा गायों का उल्लेख मिलता है । गायें शाला में रखी जाती थी । गायों को दिन में चरने के लिये छोड दिया जाता था । गर्भपात हो जाने वाली गाय को "वेहत्" कहा जाता था ।

"वेहद्वैष्णवो वामन:[3]"

संतति के अयोग्य गाय को वशा कहा गया है ।

" वशा द्यावा पृथिवी[4] "

1· शुक्लयजुर्वेद 4·19

2· शतपथ 5·3·1·4

3· शुक्लयजुर्वेद 24·1

4· शुक्लयजुर्वेद 24·13

वंध्या गायों को हल तथा गाड़ी चलाने के भी काम में लाया जाता था । सांड को ऋषभ तथा बैल को अनड्वाह उक्षा गो आदि कहा गया है अनड्वाह गाडी खीचने वाले बैल की विशिष्ट संज्ञा थी ।

" उस्त्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ ब्रह्म चोदनौ[1] "

धुरा को वहन करने वाले अपने सीगों से हमारे शिशुओं को न मारने वाले तथा ब्राह्मणों को यज्ञ की ओर प्रेरित करने वाले हे बैलों तुम शकट में संयोजित होओ । अनडुह अग्नि का बंधु था । बैलों का प्रमुख कार्य हल चलाना था तथा बैल शक्ति का प्रतीक माना जाता था ।

अश्व -

शुक्लयजुर्वेद में वर्णन मिलता है कि गाय दूध धारण करती है बैल बल धारण करते हैं तथा अश्व गति धारण करते हैं ।

" वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पयउस्त्रियास हृत्सु क्रतुं[2] "

गति का सम्बन्ध यहां अश्व की आशुता तथा त्वरा से है इसलिये रथ से युक्त घोडे के पर्याय के रूप में " आशु" शब्द का प्रयोग भी मिलता है । अश्व की महत्ता को द्योतित करने के लिये कहा गया है कि " अश्व क्षत्र है और बाकी पशु विश" प्रस्तुत कथन अश्व के सामरिक उपयोगिता का प्रदर्शक भी है अश्व मनुष्यों को ही नहीं

---

1. शुक्लयजुर्वेद 4.33

2.

देव गंधर्व तथा असुरों का भी सम्बन्धित पशु है तथा प्रत्येक से सम्बन्धित होकर भिन्न नाम धारण करता है -

" विभूर्मात्रा प्रभूः पिताश्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि
मयोऽस्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि वृषासि "
नृमणा असि । ययुर्नामासि शिशुर्नामस्या[1] । "

हे अश्व तुम माता पृथ्वी की सम्पर्क से इतने समर्थ हो और पिता द्यौ के सम्पर्क से इतने प्रभुतावान हो म तुम अश्व, हय, अत्य, मय अर्वा, सप्ति, वाजी, वृषा यजमान में लगे मन वाले तथा ययु शिशु नाम वाले हो । अश्व समुद्र का का बंधु है तथा समुद्र ही अश्व का उत्पत्ति स्थल है -

"यदक्रन्द प्रथमं जायमान उद्यन्तसमुद्रादुत वा पुरीषात"[2] ।।

हे अश्व समुद्र से प्रकट अथवा लौकिक अश्व से उत्पन्न होते हुये तुमने जो क्रन्दन किया था । वैदिक साहित्य में " समुद्र" शब्द सिंधु के पर्याय के रूप में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है । सिंधु प्रदेश के घोडे उत्तमता के लिये प्रसिद्ध थे अतः अश्व को " सैन्धव" भी कहा गया है । अश्व एक शफ पशुओं की श्रेणी में था । सामरिक उपयोग के अतिरिक्त यह गाडी भी खीचता था । घोडो की लगामों का बारम्बार उल्लेख हुआ है जिन्हें " अभिशु" तथा वल्गा कहा जाता था ।

---

1. शुक्लयजुर्वेद 32.19

2. शुक्लयजुर्वेद 29.12

" अभिशुना महिमानं पनायत
मन: पश्चादनुयच्छतिरश्मय:"[1]

हे मनुष्यों लगामों की महिमा की स्तुति करो कि जो रश्मियों अश्वों के पीछे होकर आगे - आगे भागने वाले अश्वों के मनों का नियंत्रण करती है । अश्व को पशुओं में श्रेष्ठ माना गया है शुक्लयजुर्वेद में कई स्थानों पर अश्व की स्तुति की गयी है ।

" ईड्यश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्नाशुश्चासि
मेध्यश्च सप्ते "[2]

हे वेगवान अश्व तुम स्तुत्य हो । तुम वन्दनीय हो तुम मार्ग में व्यापनशील हो । तुम पवित्र भी हो शतपथ में वर्णन है कि -

" अस्य सलिलस्य पारेऽश्व: श्वेत: स्थाणौ सेवते "[3]

अर्थात् इस सलिल के उस पार एक श्वेत घोड़ा एक खम्भे के पास खड़ा है । इस कथन में सूर्य को लक्ष्य करके अश्व का प्रतीकात्मक प्रयोग भी इस पशु के सर्वोच्च महत्व को प्रकट कर रहा है । शुक्लयजुर्वेद का निम्न मन्त्र भी इसका समर्थन करता है-

" अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष "[4]

हे अश्व अन्न या वर्षा को जीतने की इच्छा करते हुये इस सूर्यमण्डल में मैंने तुम्हारे उत्तम देवस्वरूप को देखा है । आज भी शक्ति का प्रतीक अश्व को ही माना जाता है जैसा कि यन्त्रों की शक्ति के लिये " हार्स पावर" शब्द प्रयोग से प्रमाणित है ।

---

1. शुक्लयजुर्वेद 29.43
2. शुक्लयजुर्वेद 29.3
3. शतपथ 3.6.2.4
4. शुक्लयजुर्वेद 29.18

अज -

ग्राम्य पशुओं में अज का महत्व भी विशेष रूप में दर्शाया गया है

" अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्ने
तेन देवा देवतामग्रामयस्तेन रोहमायन्नुपमेध्यासः ।। "[1]

जो बकरा प्रजापति के सन्ताप से उत्पन्न हुआ है उसने सर्वप्रथम अपने उत्पादक प्रजापति को देखा उस बकरे के द्वारा यजन करके देव देवों ने अग्रणी हुये । शुक्लयजुर्वेद में नाना वर्ण के बकरों का वर्णन मिलता है -

" धूम्रान्वसन्ताया लभते श्वेतान् ग्रीष्माय
कृष्णान्वर्षाभ्योऽरुणाञ्छरदे पृषतो हेमन्ताय पिशङ्गाञ्छिशिराय "[2]

धूम्रवर्ण तीन वकरों को वसन्त के लिये आलम्भन करते हैं । श्वेत तीन बकरों को ग्रीष्म के लिये काले तीन बकरों को वर्षा के लिये रक्त वर्ण तीन बकरों को शरद के लिये बिन्दुयुक्त तीन बकरों को हेमन्त के लिये और पीले तीन बकरो को शिशिर ऋतु के लिये आलम्भन करते हैं । छाग भी कहा गया है । राजस्थानी भाषा में बकरी को आज भी " छाली " कहा जाता है जो कि संभवतः छाग के स्त्रीलिंग रूप "छागली" का ही रूपांतर मात्र है । बकरियों आदि के चरने के लिये विस्तृत चरागाह थे । विविध प्रकार के पौधों की पत्तियों को खाने के कारण बकरी का दूध उत्तम

---

1. शुक्लयजुर्वेद 13. 51
2. शुक्लयजुर्वेद 24. 11

माना जाता था ।

अवि :-

भेड़ों के लिये शुक्लयजुर्वेद में मेष तथा मेषी शब्दों का प्रयोग मिलता है -

" पुरस्तात्सारस्वती मेषी "[1]

मेषी को सरस्वती का पशु कहा गया है भेड को त्वष्टा की प्रथम सृष्टि भी कहा गया है -

"इममूर्णायुं वरूणस्य नाभिं त्वचं पशूनां
द्विपदां चतुष्पदाम । त्वष्टु: प्रजानां प्रथमं
जनित्रमग्ने मा हिंसी: परमे व्योमन ।।"[2]

इस ऊन देने वाली वरूण की नाभि सी रक्षणीया द्विपाद चतुष्पाद पशुओं की शीत से रक्षा करने वाली कम्बलादि त्वचा सी और पशु रूप प्रजा को उत्पन्न करने वाले त्वष्टा की प्रथम सृष्टि इस भेड को परमाकाश में हिंसित मत करो । इस प्रकार भेड़ की ऊन वस्त्र निर्माण के काम में आती थी तथा सोम रस छानने के लिये भेड के ऊन की छलनी बनाई जाती थी । भेड़ बकरियां घरों में न पालकर गडरियों द्वारा पाली जाती थी । इसलिये अजा, अवि का प्रचुर उल्लेख होते हुये भी घर से इसका सम्बन्ध नहीं दर्शाया गया है ।

रासभ :-

शुक्लयजुर्वेद में इस पशु से सम्बन्धित ज्ञातव्य प्रचुरता से मिलता है । इसे खर, रासभ, गर्दभ, आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है । शुक्लयजुर्वेद में रासभ को

---

1. शुक्लयजुर्वेद 24.1

2. शुक्लयजुर्वेद 13.50

अग्नि को बुलाने वाला कहा गया है -

"युञ्जाथा रासभं युवमस्मिन्यामे[1]
वृषण्वसु अग्नि भरन्तमस्मयुम "

हे धनवर्षक पत्नी यजमान तुम दोनों इस कर्म विशेष में अग्नि को आहूत करने वाले और हमारी हितकामना वाले गर्दभ को बांधों राख के ढेर पर लोट पोट लगाने की प्रवृत्ति गधे की आदिम प्रवृत्ति ज्ञात होती है जिसके सम्बन्ध में शतपथ में उद्धृत है -

" अथ यदासा: पांसव: पर्यशिष्यन्त ततो गर्दभ: समवत्त[2]"

राख के ढेर से गधा उत्पन्न हुआ है । अत: जहां कहीं राख का ढेर होता है लोग कहते हैं यह गर्दभ स्थान है । गधा वस्तुत: घोडे से हीन पशु था । इसलिये अश्व जहां क्षत्र का प्रतीक है रासभ वैश्य एवं शूद्र का । अश्व से हीन बताये जाने पर भी इसे उत्तम भारवाहक पशु स्वीकार किया है -

" पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्ने पुरीषवाहण:[3]"

हे रासभ तुम अग्नि§ मिट्टी§ के सुखपूर्वक बैठने के स्थान हो । तुम पुरीष§ मृतपिण्ड§ वालु के ढोने वाले हो ।

<u>उष्ट्र</u> :-

बोझा ढोने वाले पशुओं में ऊंट का उल्लेख कई जगह किया गया है ।

---

1. शुक्लयजुर्वेद 11.13
2. शतपथ 4.5.1.9
3. शतपथ 4.5.1.9

कुछ विद्वान उष्ट्र शब्द का अर्थ" उच्च स्कन्ध का बैल " या जंगली भैंसा करते हैं । परन्तु सामान्य अर्थ में ऊँट के लिये " उष्ट्र" शब्द पर्याय रूप में आज तक चला आ रहा है ऊँट का अग्नि से सम्बन्ध दर्शाया गया है ।

" उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु [1] "

हे अग्ने ऊँट को तुम्हारी ज्वाला भक्षणार्थ प्राप्त होवे । हम जिससे द्वेष करते हैं उसे तुम्हारी ज्वाला सम्प्राप्त होवे । शतपथ बोझा ढोने वाले पशु के अर्थ में "वाहन" शब्द का प्रयोग भी मिलता है ।

कुत्ता :-

पालतू पशुओं में कुत्ता महत्वपूर्ण पशु दिखाई देता है । कुत्ते के लिये "श्वापद" संज्ञा का प्रयोग भी हुआ है ।

" परोमर्त: पर: श्वा [2] । "

मनुष्य दूर हुआ कुत्ता दूर हुआ । अस्वच्छ माने जाने के कारण ही इसे बलि के अयोग्य कहा गया है ।

" त्र्योह त्वाव पशव अमेध्या: दुर्वराह ऐडक: श्वा: [3] "

तीन पशु अमेध्य है " दुर्वराह, एडक और श्वा । चरवाहे अपने पशुओं के साथ शिकारी कुत्ते रखते थे । एक स्थान पर कुत्ते को " चार चक्षुस" कहा गया है जहां उसका

---

1. शुक्लयजुर्वेद 13.50

2. शुक्लयजुर्वेद 22.5

3. शतपथ 6.5.2.19

चौकन्नापन अभिप्रेत है ।

कुक्कुट :-

कुक्कुट (मुर्गे) भी पाले जाते थे जिनकी मधुर वाणी के कारण उन्हें मधु जिह्व कहा गया है -

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद
त्वयावयं संघात संघात जेष्म [1]

हे कुक्कुट तुम कुक्कुट हो । तुम मधुर जिह्वा वाले हो हे कुक्कुट तुम हमें आज वर्षा और अन्न का कथन करो । तुम्हारे द्वारा प्रबुद्ध हम राक्षसादि के संघ, संघ को जीतें किन्तु असुरों के लिये कुक्कुट विषजिह्व थे संभवत, इसलिये कि आर्यों की अपेक्षा असुर ब्राह्म मुहूर्त में जागना पसंद नहीं करते होंगे अत: उस समय आवाज देकर जगाने कुक्कुट स्वभावत: ही उन्हें विषजिह्व लगता होगा ।

उपर्युक्त विवरण से प्रकट है कि शुक्लयजुर्वेदकालीन संस्कृति में पशुपालन उपयोगिता तथा कलात्मकता दोनों दृष्टियों से उच्चस्तरीय था । उपयोगिता का दृष्टिकोण इतना वैज्ञानिक था कि विभिन्न क्रियायों तथा उपयोगों की दृष्टि से ही पशुओं को विभिन्न नाम दिये गये अत: एक पशु के विभिन्न पर्याय मिलते हैं ।

आरण्य पशु -

शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित दीर्घारण्य शब्द से ज्ञात होता है कि उस समय उत्तर पूर्वी भारत में विस्तृत वन थे जिनमें वन्य पशुओं की बहुतायत रही होगी । इन वनों में रीछ, सिंह व्याघ्र श्रृंगाल आदि बसते थे ।

1• शुक्लयजुर्वेद 1•16

शार्दूलो वृक: पृदाकुस्ते मन्यवे

व्याघ्र वृक चीता और सर्प मन्यु के लिये । व्याघ्र का इतर नाम शार्दूल भी मिलता है व्याघ्र घातक प्रकृति का पशु था । व्याघ्र चर्म यज्ञ में मैत्रावरूण वेदों के समक्ष विछायी जाती थी । जंगली बराह भी मिलते थे जिन्हें " दुर्वराह" कहा गया है । एडक नाम के एक अन्य वन्य पशु की भी चर्चा है जिसे कुछ विद्वान दुष्ट मेष का द्योतक मानते हैं । वाजसनेयी संहिता में उल्लिखित आरण्य मेष" संभवत: यही एडक पशु हो ।

वरूणायारण्यो मेषो

श्वा तथा दुर्वराह के साथ- साथ एडक भी अमेध्य पशु माना गया है । इन दोनों वन्य पशुओं के साथ श्वा नामोल्लेख जंगली कुत्तों की स्थिति की संभावना प्रकट करता है ।

" शंङ्गो वैश्वदेव: श्वा कृष्ण: कर्णो

गर्दभस्तरक्षस्ते रक्षसामिन्द्राय "[2]

गैण्डा विश्वदेवदेवताक है काला कुत्ता लम्बकर्ण गर्दभ और मृग भक्षक अक्षु वे राक्षसों के पशु हैं । जंगली चूहों का भी वर्णन मिलता है ।

"भूम्या आखूनालभतेऽन्तरिक्षाय पाङ्क्तान्दिवे कशान्[3]

भूमि के लिये चूहों को आलम्भन करें । अन्तरिक्ष के लिये पांक्तो§ विशेष चूहों§ को द्युलोक के लिये कशो§ चूहे विशेष§ को दिशाओं के लिये आलम्भन करें। वानर

---

1. शुक्लयजुर्वेद 24·33
2. शुक्लयजुर्वेद 24·40
3. शुक्लयजुर्वेद 24·26

की स्थिति अनिश्चित सी है किन्तु " किं पुरुष" नाम के प्राणी को कुछ विद्वान बन्दर ही मानते हैं वानर की स्थिति अस्पष्ट होते हुये भी विद्वान वनमानुषों का उल्लेख प्राप्त है जिन्हें "मयु" कहा जाता था ।

"मयुं ते शुगृच्छत यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु[1]

हे अग्ने तुम्हारा ताप किन्नर मृग को प्राप्त होवे हम जिससे द्वेष करते हैं उसे तुम्हारी ज्वाला सम्प्राप्त होवे । वनो में मृग को छौड लगाते थे कृष्ण मृग की चर्म महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी । यज्ञ की पूर्णता के लिये काले मृग चर्म पर ही दीक्षा ली जाती थी । यज्ञ में कूटना पीसना सब कार्य मृग चर्म पर ही होता था । कृष्ण मृग चर्म का मानुषी नाम चर्म है दैवी नाम शर्म । यहां तक कि मात्र " कृष्ण[2]" शब्द ही कृष्ण मृग का अर्थ देने में समर्थ देखा गया है । शरभ नामक भी एक पशु था । जिसे कुछ विद्वान आठ पांवों वाला पशु " मानते हैं जो हिमखंडित पर्वतों पर रहता था और सिंह तथा हाथी का शत्रु था ।

" शरभमारण्यमनु ते दिशामि
तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद[3] "

हे अग्ने आरण्य शरभ के लिये मैं तुम्हें निर्देश देता हूं । उसे स्वशरीर को पुष्ट करते हुये हे अग्ने तुम प्रतिष्ठित होओ । इसके अतिरिक्त गवय तथा गौर पशु भी थे जिनका स्वरूप अज्ञात है ।

---

1. शुक्लयजुर्वेद 13.47
2. शुक्लयजुर्वेद 24.36
3. शुक्लयजुर्वेद 13.51

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लयजुर्वेद कालीन मानव का पशु सम्बन्धी ज्ञान विस्तृत एवं गवेषणापूर्ण था । पशुओं के साथ निकट सम्पर्क के बिना यह ज्ञान असंभव था ।

पक्षी :-

पशु ही नहीं विभिन्न पक्षियों तथा अन्य जीवों के सम्बन्ध में भी शुक्लयजुर्वेद सारगर्भित एवं रोचक वर्णन प्रस्तुत करता है । तत्कालीन मानव समाज पक्षियों में भी विशेष रुचि रखता प्रतीत होता है । कपिंजल कलविंक तथा तित्तिरि पक्षियों का एक साथ अनेक बार उल्लेख किया गया है ।

" वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय ।
कलविङ्कान्वर्षाभ्यास्तित्तिरी [1] ।"

वसन्त के लिये कपिञ्जलों को आलम्भन करें ग्रीष्म के लिये कलविंकों को वर्षा के लिये तीतरों को आलम्भन करे। कलविंक शराबी की तरह लड़खड़ाती आवाज में बोलता था गोरैया पक्षी का पर्याय भी इसे बताया गया है । कपिञ्जल भूरे रंग का पक्षी था जिसकी समानता कुछ विद्वान चातक से तथा अन्य बाज अथवा बटेर से करते है। तीतर के पंखों पर घी तथा शहद के से दाग थे जिन्हें बहुरूप कहा गया है शुक्लयजुर्वेद में श्येन पक्षी की महिमा विविध रूप में वर्णित है ।

" श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य
गृहान्गच्छ तन्नौ संस्कृतम् [2] "

1• शुक्लयजुर्वेद 24•20

2• शुक्लयजुर्वेद 4•34

हे सोम तुम बाज पक्षी के सदृश वेग से जाओ । तुम यजमान के घरों को जाओ यजमान के घर ही मेरे और तुम्हारे लिये अनुकूल स्थान है । गायत्री द्वारा सोम लाने की क्रिया से इस पक्षी का सम्बन्ध होने के कारण यह महासुपर्ण, महाश्येन तथा महापक्षी कहलाता है । पक्षी के डैने पर्ण कहलाते थे श्येन के शक्तिसम्पन्न डैने के कारण ही संभवतः यह सुपर्ण कहलाता था । शुक्लयजुर्वेद में शकुनि पक्षी के नाम का वर्णन मिलता है जो श्येन से छोटा होता था तथा शकुन अपशकुन की भविष्यवाणी करता था ।

इसके अतिरिक्त कई जगह पर जलचर जीवों का भी प्रासंगिक उल्लेख मिलता है । कछुआ सुपरिचित प्राणी है जिसे कूर्म या कश्यप कहा गया है । कछुये को जलों का अधिपति भी कहा गया है ।

" त्रीन्समुद्रान्समसृपत्स्वर्गानिपापति वृषभ इष्टकानाम् "[1]

यह जलों का अधिपति तथा ईटों का अभिवर्षक कच्छप तीन लोकों को पार कर जाता है । हस का भी उल्लेख मिलता है जिसे " शुचिसद् " कहागया है । मक्खियों का भी वर्णन मिलता है जिन्हें मक्षिका कहाजाता है चीटियों के उपजिह्विका उपजीका, वम्र आदि अनेक भेद थे उपजिह्विका लाल तथा वम्र सफेद चीटीं होती थी ।

" यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति ।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ।"[2]

जिस समिधा को उपजिह्विका खा जाती है और जिस समिधा में दीमक छोड़ जाती है

---

1. शुक्लयजुर्वेद । 3.3।

2. " 11.74

वह सब समिधायें हे अग्ने तुम्हारे लिये धृत सी प्रिय होवें । सरीसृप प्राणियों में अहि का अनेक वार उल्लेख मिलता है -

" नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवी मनु ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्य: सर्पेभ्यो नम: "[1]

उन सर्पों को नमस्कार है जो इस पृथिवी पर जहां तहां विद्यमान हैं । जो सर्प अन्तरिक्ष में है और जो द्युलोक में विद्यमान है उन सब सर्पों को नमस्कार है । इनके अतिरक्त उलूक, चाष, मयूर, कपोत कौलिक, गोह कुलीक आदि पक्षियों का भी वर्णन मिलता है किन्तु इन पक्षियों के विषय में विस्तृत विवरण का आभाव है ।

पशु पक्षी तथा अन्य प्राणियों से सम्बन्धित उपर्युक्त विवरण अत्यंत विस्तृत रोचक तथा महत्वपूर्ण है । शुक्लयजुर्वेद में वर्णित अश्वमेध यज्ञ में इतने अधिक पशु पक्षियों का वर्णन है कि ऐसा लगता है कि मानो अश्वमेध यज्ञ में पशु पक्षियों की प्रदर्शनी लगी हो ।

वनस्पति जगत् :-

शुक्लयजुर्वेद वनस्पति विज्ञान का ग्रंथ नहीं है । प्रासंगिक रूप में ही यत्र - तत्र वनस्पतियों का उल्लेख उपलब्ध होता है । इसमें प्राप्त विवरणों द्वारा शुक्लयजुर्वेद-कालीन भारतीयों के वनस्पति जगत से घनिष्ठ सम्पर्क एवंप्रेम का अनुमान सहज ही

---

1. शुक्लयजुर्वेद 13.6

लगाया जा सकता है । शुक्लयजुर्वेद में वनस्पतियों का संकेत मात्र मिलता है इसका विस्तृत विवरण हमें शतपथ से ही उपलब्ध होता है । शुक्लयजुर्वेद में उपलब्ध वनस्पतियों का विवरण सुविधा की दृष्टि से वर्णक्रम से देना उचित प्रतीत होता है -

अपामार्ग -

अभिचारीय कृति एवं चिकित्सा हेतु इस पौधे का प्रयोग विशेषत: क्षेत्रीय के विरुद्ध किया जाता था । अपामार्ग होम द्वारा देवों ने राक्षसों को अपने मार्ग से हटा दिया ।

" अपामार्गैर्वैदेवा दिक्षु नाष्ट्रा रक्षांस्यपामृनत तेन्यजयन्त"[1]

पापों से मुक्त करने वाला यह पौधा जादू टोने तथा यज्ञादि के लिये प्रयुक्त होता था ।

" अपाधमप किल्बिषमप कृत्यामपो रप: ।
अपामार्ग त्वमस्मदप दु:ष्वन्प्य सुव "[2]

हे अपामार्ग अघ, किल्विष, कृत्या, लान्छन और दुष्ट स्वप्नत्व को तुम हमसे दूर करो।

अर्क -

इस पौधे का उल्लेख कई बार हुआ है । शुक्लयजुर्वेद के " शतरुद्रियं में रुद्र को समर्पित चार चौ पच्चीस हवियों में एक हवि अर्कपत्र की है ।

---

1. शतपथ 5.2.4.14
2. शंक्लयजुर्वेद 35.11

"जतिर्लरारण्यातिलैमिश्रान गवेधुका सक्तुनर्कपत्रेण जुहोति "[1]

आज भी शिव को अर्क पुष्प अर्पित किये जाते हैं ।

<u>अवका</u> :-

यह एक जलीय पौधा है जो यज्ञ विधियों में प्रयुक्त हुआ करता था । संभवत: इसका परवर्ती नाम शैवाल है शुक्लयजुर्वेद में इसका उल्लेख हुआ है ।

" समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परिव्ययासि "[2]

हे अग्ने हम जल के शैवाल से तुम्हें परिवेष्टित करते हैं । वेबर अवका को कमल का फूल मानते हैं ।

<u>अश्वत्थ</u> :-

अश्वत्थ जिसे पीपल का वृक्ष कहा जाता है वैदिक युग में भी उतना ही मान्यता प्राप्त वृक्ष दिखायी देता है जितना कि आज के युग में इसका महत्व है । शुक्लयजुर्वेद में अश्वत्थ की स्तुति की गयी है ।

" मधुमान्नो वनस्पति मधुमांऽअस्तु सूर्यः "[3]

पीपल प्रभृति वनस्पति हमारे लिये मधुर होवो । सूर्य हमारे लिये मधुर होवे । शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख शमी वृक्ष के साथ हुआ है जहां पवित्र अग्नि के अश्वत्थ रूप में तथा स्थाली के शमी रूप में परिवर्तित हो जाने की कथा है । ऋग्वेद में इस वृक्ष का

1• शुक्लयजुर्वेद ।6•। महीधर भाष्य

2• शुक्लयजुर्वेद ।7•4

3• शुक्ल यजुर्वेद

दो बार उल्लेख हुआ है जहां इसके सर्वप्राचीन होने ◊ देवों के लिये तीन युग पूर्व उत्पन्न होने ◊ तथा ओषधि के रूप में इसके एक सौ सात प्रयोग होने के कारण इसकी महिमा का वर्णन किया गया है तथा इसे अम्ब सम्बोधन करके सहस्त्ररूह भी कहा गया है -

"शतं वो अम्ब धामानि सहस्त्रमुत वोरूह:[1]"

कठोपनिषद । में कहा गया है कि यह उध्र्वमूल तथा सनातन है । गीता में भी इसे उध्र्वमूल अध: शाख एवं अव्यय बताकर अविनाशी ब्रह्म से इसकी समानता की गयी है ।

" उष्टर्वमूलमध: शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम[2]"

इस वृक्ष की प्रशंसा के मूल में निश्चितरूपेण इसकी सनातनता उध्र्वमूलता तथा औषधीय गुणों की अधिकता ही थी । अश्वत्थ की लकडी के पात्र भी बनते थे ।

उदुम्बर -

उदुम्बर वृक्ष का शतपथ में अत्यधिक वर्णन मिलता है । अश्वत्थ एवं खदिर के साथ भी इसका उल्लेख किया गया है । शतपथ में इसका महात्म्य दर्शनीय है । यह सभी वनस्पतियों का प्रतीक है -

" अथो सर्वऽएते वनस्पतय: यदुदम्बर: । ए सर्वे वाऽएतं वनस्पतयो यन्तुम-ईन्ति[3]"

यह उदुम्बर सब वृक्षों का प्रतिनिधि है । सभी वनस्पतियों उस अग्नि को ले जाने में

---

1. ऋग्वेद 1·135·8, 10·97, 1-10
2. गीता 15·1
3. शतपथ 6·7·1·13

समर्थ है । वाजपेय यज्ञ के समय सिंहासन भी इसी की लकड़ी से बनता था । इसकी लकड़ी के द्वारा यज्ञ के पात्र भी बनते थे । चरक सौत्रामणि यज्ञ में अभिषेक के लिये उदुम्बर के पात्रों में सरस्वती प्रभृति नदियों का जल एकत्र किया जाता था ।
अभिषेकार्था वक्ष्यमाणा अपो वक्ष्यमाणप्रकारे
णोदुम्बर वृक्षपात्रेषु पृथग्गृह्याति[1]

शुक्लयजुर्वेद के विवरणों से ज्ञात होता है कि सभी प्रकार के सांस्कारिक कृत्यों के लिये प्राय: इसी लकड़ी का व्यवहार होता था । शतपथ ब्राह्मण में उदुम्बर वृक्ष के सम्बन्ध में एक उपाख्यान दिया गया है । जिसमें इसकी उत्पत्ति के बारे में संकेत देकर यह प्रदर्शित किया गया है कि जब सभी इतर वृक्षों ने असुरों का पक्ष लिया तब उदुम्बर अकेला देवों के पक्ष में रहा[2] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उदुम्बर वर्ष भर में तीन बार फल देता है जो व्यक्ति निरन्तर कर्म करता है उसे स्वादिष्ट उदुम्बर की प्राप्ति होती है ।

" चरन् वै मधुविन्दते चरन् स्वादमुदुम्बरम्[3] "

उदुम्बर के बहुमुखी उपयोग के कारण ही सभी ग्रन्थों में उदुम्बर वृक्ष की प्रशंसा की गई है ।

आदार -

आदार वृक्ष का उल्लेख सोम के एक स्थानापन्न पौधे के रूप में हुआ है । श0 में इसे " पूतीक" के तुल्य बताया गया है ।

1• शुक्लयजुर्वेद 10•1 महीधर भाष्य ।

2• शतपथ 6•6•32

3• ऐतरेय ब्राह्मण 5•24

कर्कन्धु एवं बदर :-

बदरिका वृक्ष तथा उसके फल के लिये शुक्लयजुर्वेद में कुवल, कर्कन्धु का उल्लेख किया गया है -

"पयसो रूप यद्यवा दध्नो रूपं कर्कन्धूनि"[1]

यव दूध का रूप है बेर दही का रूप है । महीधर ने अपने भाष्य में लिखा है कुवलं- कोमल बदरीफलं बदरं - सर्वबदरीफल कर्कन्धु- स्थूल बदराणि । संभवत: यही बेर की तीन जातियां हैं ।

खदिर :-

आजकल खैर पुकारा जाने वाला वृक्ष ही खदिर है । जिसका ऋग्वेद तथा उसके बाद के वैदिक साहित्य में एक कड़ी लकड़ी वाले वृक्ष के रूप में उल्लेख है । ऋग्वेद में इसके सार (कत्थे) की प्रशंसा की गयी है राजसूय यज्ञ में राजा की आसंदी इसी लकड़ी से बनायी जाती थी ।

" खादिरी मन्थिकां व्याघ्रचर्मदिशे मैत्रावरुण धिष्ण्यस्य पुरो निदधाति"[2]

इसका नामकरण खदिर कैसे हुआ ? इस सन्दर्भ में सुपर्णी तथा कद्रु के उपाख्यान में निर्वचनजन्य कारण दिया गया है । सुपर्णी खदिर की लकड़ी के द्वारा सोम पर स्वत्व स्थापित ‡किया‡ कर लिया । चूंकि उस लकड़ी से उसे खदेड़ा गया इसलिये खदिर कहलाया ।

---

1. शुक्लयजुर्वेद 19.22

2. शुक्लयजुर्वेद महीधर भाष्य 10.26

1

" तस्मात खदिरो यदेनेनाखिदत्तस्माद् खदिरो यूप भवति खदिर - - - -
आजकल इसके सार से कत्था बनाने का कोई स्पष्ट सन्दर्भ नहीं मिलता है ।

बर्हि- कुश :-

शुक्लयजुर्वेद में बर्हि को पवित्र घास के रूप में प्रस्तुत किया गया है बर्हि से ही जल छिड़ककर वेदि को पवित्र करते हैं ।

" बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि

बर्हिरसि स्त्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि [2] ।। "

दर्भ के प्रीतिभाजन तुम्हें पवित्र करता हूँ हे दर्भ तुम बर्हि हो स्त्रुवाओं के प्रीतिभाजन तुम्हें पवित्र करता हूँ । शुक्लयजुर्वेद में पितरों के लिये बर्हिषद " विशेषण प्रयुक्त हुआ है । कुश घास को शुक्लयजुर्वेद ने मेध्य अर्थात पवित्र माना है । इसी कुश से पवित्रा बनायी जाती थी जिससे पवित्रा हेतु जल छिड़का जाता है । शतपथ में कुश घास को ही दर्भ भी कहा जाता है तथा इसे जल एवं औषधि दोनों बताया गया है । वृत्र को इन्द्र द्वारा मारने पर जो जल बहा वह वृत्र से डर गया । उसमें से कुछ जल सूखे प्रदेशपर झाड़ियां बनाते हुये ऊपर उठ आया । अतः यह कुश घास दर्भ कहलायी ।

" यद्दर्भा आपश्च ह्येताऽओषधयश्च या वै वृत्राद्बीभत्समानाऽआपो

धन्व दृभन्त्यऽउदायरंवेदर्भाऽअभवन [3] " ।।

कुश आज तक भी पवित्रता की द्योतक है । जैसा कि श्राद्ध मन्त्र में कहा जाता है ।

---

1. शतपथ 3.6.2.12

2. शुक्लयजुर्वेद 2.1

3. शतपथ 7.2.3.1-2

पवित्रार्थी इमे कुशा " ।

नड -

शुक्लयजुर्वेद में नड नामक एक ऐसे पौधे की उपस्थिति प्राप्त होती है जिसे ऋग्वेद में झीलों में उगने वाला पौधा बताया गया है । शतपथ में इसे वार्षिक वृद्धि वाला बताया गया है । यह चटाई बनाने के काम में लाया जाता था । शु0 में सुम के लिये कहा जाता था कि वह नड, वेणु, तथा इसी का भी बना हुआ हो सकता है ।

नीवार :-

नीवार एक जंगली घास थी जिसका कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में भी उल्लेख किया है -

" नीवाराशुक गर्भ कोटरमुखभ्रष्टा स्तरूणामधः ।

यजुर्वेद में वाजपेय यज्ञ के समय यजमान नीवार का चरू स्पर्श करता है तथा घोडे से कहता है -

" हे वाजिनोऽश्वाः यूयं वृहस्पतेः संबन्धिन भागं चरूमवजिघ्रत आघ्राणं कुरूत [1] " ।

न्यग्रोध :-

न्यग्रोध वट वृक्ष का अन्य नाम है । शुक्लयजुर्वेद में वर्णन है कि इस वृक्ष की लकड़ी से बने पात्र से राजन्य का अभिषिन्चन होता था । अश्वमेध यज्ञ के समय अश्व को संबोधित करते हुये कहा है -

---

1. शुक्लयजुर्वेद महीधर भाष्य 9.19

वायुष्ट्वा पचतैरवत्वसितग्रीवश्छागैर्न्यग्रोधश्चमसै[1]

हे अश्व वायु तुम्हें पाकों के द्वारा बचावे धूम से काली ग्रीवा वाला अग्नि तुम्हें बकरों के द्वारा बचावे । बरगद सोम पात्रों केद्वारा बचावे । इस वृक्ष की नीचे {न्यक्} झुककर वापस जगह घेरने { रोध} के कारण ही इसे न्यग्रोध नाम दिया गया ।

पलाश =-

पलाश का उल्लेख शुक्लयजुर्वेद में न्यग्रोध अश्वत्थ के साथ मिलता है । इसका एक अन्य पर्याय है पर्ण ।

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नम

पर्ण के लिये नमस्कार है तथा पर्ण को विखण्डित करने वाले को नमस्कार है पलाश के पत्तों को पवित्र माना गया है । शतपथ में वर्णन है कि समिधाये पलाश की होनी चाहिये क्यों कि पलाश ब्रह्म है । पलाश की शाखा से गर्हिपत्य का स्थान साफ किया जाता है । सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उल्लेख यह है कि पलाश तथा अश्वत्थ ही ऐसे वृक्ष है जिनपर देव तथा पितर निवास करते हैं -

" अश्वत्थे वो निषदनें पर्णे व वसतिष्कृता[2] "

मुञ्ज -

शतपथ ब्राह्मण में मुञ्ज घास का अनेक बार उल्लेख हुआ है । जहां इसे खोखला कहा गया है । शु0 में भी मुञ्ज घास का उल्लेख मिलता है । यह घास सिंहासन के बुने हुये भाग के लिये प्रयुक्त होती थी मुञ्ज की रस्सी को ही त्रिगुणित कर रास्ना बनायी जाती थी जिससे यज्ञ में बैठे हुये यजमान की पत्नी को बाँधते है ।

---

1. शुक्लयजुर्वेद 23.13

2. शुक्लयजुर्वेद 35.4

"आदित्यै रास्नासि"[1]

यह मुञ्ज आज भी अपने बहुमुखी गुणों के कारण कीमती पौधा माना जाता है इसके छप्पर मकानों पर चढाये जाते हैं तथा रस्सी, टोकरी मूढ़े, पर्दे तथा झाड़ु आदि बनाने में इसका प्रयोग बहुप्रचलित है ।

वंश -

वंश शब्द का प्रयोग शुक्लयजुर्वेद में अनेक बार हुआ है । बाँस के विभिन्न प्रयोगों से तत्कालीन लोग सुपरिचित थे । शुक्लयजुर्वेद में बाँस चीरने वाली स्त्रियों को " विदलकारी " कहा गया है ।

" विदलकारी वंशविदारिणी वंश पात्रकारीणिम् "[2]

बाँस की छोटी छोटी टोकरियाँ होती थी जिसे " मृतय कहा जाता था -

" तृणवंशादि निर्मित: पात्र विशेषो मृतमित्युच्यते "

शतपथ में बाँस के पौधेके रूप में भी यह अनेक बार उल्लिखित है । इस प्रकार बाँस के विभिन्न प्रयोगों से तत्कालीन लोग सुपरिचित हैं ।

वेतस :-

यह बाँस की ही एक किस्म है इसका उल्लेख शुक्लयजुर्वेद में मिला है -

" उपज्मुन्नप वेतसे ऽवतर नदोष्वा "[3]

अर्थात् हे अग्ने तुम पृथ्वी में वेंत की शाखा में और नदी के शीतल शेवाल में उतर आओ । शतपथ में इसके नामकरण सम्बन्धी विवेचन को स्पष्ट किया गया है-

---

1. शुक्यजुर्वेद 1·31
2. " 30·8 महीधर भाष्य
3. शुक्लयजुर्वेद 17·6

" एष वऽतस्य वनस्पतिर्वेत्ति त्वत वेत्तु सवेत्तु सेऽहवे"[1]
वह वेतस इव वनस्पतियों को जानता है तथा रखता है॥ सवेति॥ अत: वेतस कहलाता है ।

शल्मलि :-

शल्मलि नामक वृक्ष का शुक्लयजुर्वेद में उल्लेख मिलता है -

"वायुष्टवा पचतैरवत्वसितग्रीवश्छागैर्न्यग्रोधश्चमसै शल्मलिवृद्धया"[2]
हे अश्व वायु तुम्हें पाकों के द्वारा बचावे धूम से काली ग्रीवा वाला अग्नि तुम्हें बकरों के द्वारा बचावे बनगद सोपात्रों के द्वारा औरशल्मलि वृक्ष वृद्धि के द्वारातुम्हें बचावे । ऋग्वेद में वर्णन है कि वर की गाडी शल्मलि की लकड़ी की बनी होती थी । शतपथ में इसे वृक्षों में सबसे ऊँचा बताया गया है । संभवत: यह सेमल का वृक्ष था।

सोम -

सोम आर्योंका सर्वाधिकप्रिय एवं अपेक्षित पौधा था जिसे यज्ञों में सोम हवि तैयार करने के लिये प्रयोग में लाया जाता था । ऋग्वेद का पूरा नवां मण्डल सोम प्रशस्ति हेतु समर्पित है । शुक्लयजुर्वेद में इस पौधे के संबन्ध में प्रचुर विवरण मिलता है । शुक्लयजुर्वेद में सोम की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है -

" उपहरे गिरिणां मध्ये संगमे
च नदीनाम धिया विप्रो अजायत "[3] ।

पर्वतों के निकट और नदियों के संगम स्थल में यज्ञोपयोग बुद्धि से सोम उत्पन्न होता है।

---

1. श्र/ शतपथ 9.1.2.22
2. शुक्लयजुर्वेद 23.11
3. शुक्लयजुर्वेद 26.15

शतपथ में इस पौधे की टहनियों को बभ्रु अरूण तथा हरित बताया गया है । सोम के आह्लादकारी तथा उत्तेजक प्रभाव का भी वर्णन शुक्लयजुर्वेद में प्राप्त है । इन्द्र ने सोमपान करके ही वीरतापूर्ण कर्म किये । शतपथ के समय तक यह पौधा दुर्लभ बन चुका था । बहुत संभव है कि इस पौधे की अब व्याख्या तो क्या पहचान भी नहीं की जा सकती है ।

पुष्कर :-

कमल के फूल के लिये शुक्लयजुर्वेद में पुष्कर नाम दिया गया है । कहीं- कहीं पर पुष्कर के पौधे के पत्तों का भी वर्णन मिलता है ।

" वर्धमानो महाँ आ च पुष्करे

दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ।[1] "

हे पुष्कर पर्ण तुम द्युलोककी मात्रा के अनुसार स्वयं को स्वमहिमा से विस्तारित करो । शतपथ में वर्णन है कि कमल झीलों में उगता है । अत: झील को "पुष्करिणी"[2] कहा गया है । अश्विनो की " पुष्करस्त्रजकी "[3] उपाधि वैदिक ग्रन्थों में दी गयी अत: स्पष्ट है कि बहुत प्राचीन काल से यह पुष्प देह के अलंकरण के लिये प्रयुक्त होता था ।

---

1. शुक्लयजुर्वेद 11·29
2. शतपथ 4·5·1·16
3. मैक्डानल तथा कीथ वैदिकइण्डेक्स द्रष्टव्य पुण्डरीकशब्द

दूर्वा :-

घास की जाति के रूप में दूर्वा का उल्लेख शुक्लयजुर्वेद में हुआ है । दूर्वा भी यज्ञ में काम आने वाला घास थी । शुक्लयजुर्वेद में यज्ञ में प्रयुक्त दूर्वा से प्रार्थना की गयी है 1

" काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती परूषः परूषस्परि
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्त्रेण शतेन च "

हे दूब स्वयं के प्रत्येक काण्ड और पर्व- पर्व से अंकुरित होती हुई जिस प्रकार तुम स्वयं परम विस्तार को सम्प्राप्त हो रही हो इसीप्रकार हमें भी दूर्वे शत सहस्त्र पुत्र पौत्रों से अभिवृद्ध करो शतपथ में वर्णन मिलता है कि यदि आदार वृक्ष न मिले तो अरूण दूर्वा को पीसे क्यों कि अरूण दूर्वा सोम के सदृश होती है । दूर्वा को सोम के सदृश स्वीकार किये जाने के कारण ही आज भी दूर्वा का उपयोग संस्कार विधियों में पवित्रता की दृष्टि से स्वीकारा गया है ।

उपर्युक्त पशु पक्षी एवं वनस्पति जगत् सम्बन्धी विवरण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि शुक्लयजुर्वेद में पशु पक्षी एवं वनस्पतियों का विषयगत मौलिक वर्णन भी किया गया है तथा उपयोगिता की दृष्टि से भी किया गया है । वनस्पति का शुक्लयजुर्वेदीय विवरण तत्कालीन भारतीयों के वनस्पति जीवन से घनिष्ट सम्पर्क तथा उनके तत्सम्बन्धित विस्तृत ज्ञान का प्रकाशक है ।

---

1. शुक्लयजुर्वेद 13.20

कला सौन्दर्य प्रसाधन

कला का उद्गम -

मनुष्य में सौन्दर्योपासना की प्रवृत्ति अनादि है । सौन्दर्य जिज्ञासा की इस प्रवृत्ति ने ही संस्कृति और सभ्यता को जन्म दिया । मानव संस्कृति और सभ्यता के विकास में कला का सर्वाधिक योगदान रहा है । संस्कृति में सत्य शिव और सुन्दर का आधान कला के योग से ही हुआ है । संस्कृति के लोकानुराग और लोकानुराधन का पक्ष कला के संयोग से ही व्यापक हुआ है संस्कृति का जो कोमल भावनामय तरल पक्ष है कला के द्वारा ही उसका आधान हुआ । यही कारण है कि विभिन्न देशों के सांस्कृतिक इतिहास की सर्वांगीण जानकारी प्राप्त करने के लिये कला की जानकारी आवश्यक है । भारतीय जीवन में कला को सत्य शाश्वत नित्य और अनादि माना गया है । उसकी आराधना लोकमंगल और परमार्थ दोनों की उपलब्धि के लिये की गयी है । कला एक कृति है । कलाकार की अभिव्यक्ति है । यह सृष्टि स्वयं सृजनकर्ता परमात्मा की कृति या अभिव्यक्ति है । इसी भाव को लक्ष्य करके छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है " उस आयतमान कलापुरुष परमेश्वर का प्राण कला है । चक्षु कला है श्रोत कला है और मन भी कला है"[1] सृष्टि कारण रूपा यह कला त्रिविध है । उसके प्रतीक हैं सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् संस्कृति के इस "त्रिविध स्वरूप मे कला ही अधिष्ठित है । उस अनादि सत्तामय कलाकार ने शनैः शनैः अपनी विराट् कलाकृतियों का निर्माण किया-

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे"[2]

1- छान्दोग्य उपनिषद् 4.83

2- ऋग्वेद- 10.131.1

यह सम्पूर्ण विश्व पहले उसी ब्रह्म में अन्तर्धान था । उसी की चेष्टा से इस सृष्टि का निर्माण हुआ । परमात्मा का निवास अमूर्त और मूर्त दोनों में है अमूर्त ब्रह्म के मूर्त रूप की अनुभूति ही यह सृष्टि है । यही उसकी कलाकृति है ।

कला का क्षेत्र -

वैदिक ऋषियों ने कला के सम्बन्ध में जो उद्‌गार प्रकट किये हैं परवर्ती युगों की मान्यताओं से उनका तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वैदिक कवियों की कला-दृष्टि सर्वथा प्राकृतिक एवं अपार्थिव थी । कला के लक्षण-ग्रन्थों और जैन-बौद्धों के साहित्य में कला का जो स्वरूप एवं क्षेत्र देखने को मिलता है । वैदिक युग का दृष्टिकोण उससे भिन्न प्रतीत होता है ।.कलाओं की समृद्धि एवं विकास का परिचय देने वाले ग्रन्थों में कुछ तो बौद्ध-जैन धर्मों से सम्बद्ध है और उनके बाद चौंसठ कलाओं की परिगणना करने वाले ग्रन्थों में सर्वप्रथम वात्स्यायन के कामसूत्र का नाम आता है । उसके बाद कामन्दक के "नीतिसार" और क्षेमेन्द्र के "कलाविलास" आदि ग्रन्थों में इसी संख्या को मान्यता दी गयी है । इन चौंसठ कलाओं को पाँच मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है -

1- चारु {ललित} 2- कारु {उपयोगी} 3- औपनिषदिक {वशीकरण वाजीकरण} 4- बुद्धि वैलक्षण्य 5- क्रीडा कौतुक} नृत्य संगीत, वादन, चित्र रचना, प्रसाधन और अल्पना आदि कलाएँ चारु वर्ग के अन्तर्गत आती है। भाँति-भाँति के व्यंजन बनाना, कढ़ाई सिलाई-बिनाई करना बेंत चटाई आदि बनाने की कलाएँ कारु वर्ग के अन्तर्गत आती हैं । तीसरी प्रकार की औपनिषदिक कलाएँ जादू, टोना तंत्र, मंत्र मारण मोहन उच्चाटन, वशीकरण और जादूगिरी से सम्बन्धित हैं । चौथी प्रकार की कलाएँ वे हैं जो कि वाक्पाटव शास्त्र ज्ञान औरकौशल से सम्बन्धित हैं । इसी प्रकार पाँचवी प्रकार की कलाएँ वे हैं जो क्रीडा कौतुक से सम्बन्धित हैं जैसे द्यूत, शतरंज चौपड़-ताश खेलना आदि । इस विवरण को देखकर कला के क्षेत्र का सहज ही अनुमान

लगाया जा सकता है । कला के अन्तर्गत न केवल चित्र संगीत नाट्य आदि का अपितु व्याकरण छन्द ज्योतिष आदि विषयों का समावेश किया गया है । इसके साथ ही धोखा धूर्तता धनापहरण और प्रवंचना आदि सामाजिक बुराइयों से बचने के लिये भी कलाओं की जानकारी आवश्यक बतायी गयी है । इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि समाज का कोई भी क्षेत्र उससे अछूता न था ।

नृत्य संगीत वाद्य -

वैदिक युग में अनेक प्रकार की कलाओं का अस्तित्व प्रकाश में आया उस युग में कलाओं के वाहक एवं प्रवर्तक तीन प्रकार के कलाकारों का पता चलता है जिनके नाम हैं- गायक, वादक, नर्तक । कलाकारों की ये तीनों श्रेणियाँ उन्नति पर थी । नृत्य के साथ संगीत और वाद्य का विशेष आयोजन होता था । शुक्ल-यजुर्वेद में काम्पिल की पत्नी सुभद्रिका का उल्लेख हुआ है -

"संसस्त्यश्वक: सुभद्रिका काम्पील वासिनीम्"[1]

भाष्यकार महीधर ने जिसको अनेक प्रेमियों वाली नर्तकी कहा है कि जो अपने नृत्य द्वारा सबका समान रूप से मनोरंजन करती थी । शुक्लयजुर्वेद में तो केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड ही वर्णित है फिर भी यजुर्वेद के यज्ञों मे ऐसा वर्णन नहीं मिलता कि यज्ञ में नृत्य संगीत हुआ करते थे । जबकि शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टत: ही स्त्रियों द्वारा यज्ञों में सामगान करने का उल्लेख हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है कि सोम-र का पान कर स्त्री-पुरुष दोनों सामूहिक नृत्य करते थे । शतपथ ब्राह्मण में अप्सराओं के गान और नृत्य का उल्लेख हुआ है और वहीं अप्सराओं के सौन्दर्य का भी वर्णन किया गया है"[2] । नृत्य संगीत का प्रचलन केवल मानव समाज में ही नहीं अपितु

1- शुक्लयजुर्वेद-23. 18

2- शतपथ 11. 5. 1. 1

देवताओं में भी था । ऋग्वेद की एक ऋचा की व्याख्या करते हुये सायणाचार्य ने नाचते हुये देवताओं (नृत्यमाना: देवता:)"[1] का उल्लेख किया है । इस प्रकार वैदिक युग में मानवलोक और देवलोक में संगीत नृत्य आदि कलाओं का व्यापक प्रचलन था ।

"नाट्यशास्त्र" के रचयिता आचार्य भरत ने पंचम नाट्यवेद की उत्पत्ति चारों वेदों से बतायी है । नाट्यवेद के चारो तत्वों पाठ्य (संवाद) गीत (संगीत) अभिनय और रस का संग्रह क्रमशः ऋग्वेद सामवेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेद से किया गया है ।

"जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च यजुर्वेदादभिनयान् रसोनाथर्वबादपि"[2]
शुक्लयजुर्वेद के पुरुष सूक्त में कहा गया है कि -

"नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं"[3]

यज्ञ के विभिन्न अवसरों पर नृत्य (ताल लयबद्ध अभिनय) के लिये कलाकारों (निर्देशकों) को गति के लिये शैलूष को नियुक्त करना चाहिये । इस प्रसंग से यह पता चलता है कि शैलूष जाति के लोग व्यावसायिक दृष्टि से नाटकों के अभिनय का आयोजन किया करते थे । इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में आयोग, मागध (भाट) सूत (अभिनेता) शैलूष (गायिक) आदि कलाकारों के नाम देखने को मिलते हैं । इस सन्दर्भ में नृत्य के साथ वीणा बजाये जाने का भी उल्लेख हुआ है । वीणा संभवतः सर्वाधिक प्रचलित वाद्य था जिस पर गायक अपनी धुनें निकालते थे ।[4] वीणा पर

1- ऋग्वेद -5. 36. 6

2- नाट्यशास्त्र 1. 17

3- शुक्लयजुर्वेद 30. 6

4- शतपथ 3. 3. 3. 1

गाने वाले सामूहिक रूप में एवं व्यक्तिगत, दोनों रूपों में गाते थे । गायकों के समूह का नायक वीणा-गणकिन कहलाता था । सभी वर्णों के व्यक्ति वीणा बजाना सीखते थे । अश्वमेध तथा वाजपेय जैसे वृहद्यज्ञों के समापन समारोह पर ब्राह्मण तथा राजन्य वीणावादक वीणा द्वारा विजेता राजा का यशोगान करते थे । किसी विशेष प्रसन्नता के अवसर पर भी संगीत सभा का आयोजन किया जाता था जैसा कि शतपथ के निम्न उद्धरण से ज्ञात होता है ।

"यदा वै पुरुषाः श्रियं गच्छन्ति । वीणाऽस्मै वाद्यते"[1]

तूण भी वीणा की ही भाँति एक वाद्य यन्त्र था[2] । इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में संगीत का एक निश्चित स्थान बन चुका था ।

उत्सव एवं क्रीड़ा कौतुक -

वैदिक युग का समन उत्सव तत्कालीन जन-जीवन की कलाप्रियता और विनोद मनोरंजन का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है । इसका उल्लेख ऋग्वेद, अथर्ववेद, शुक्लयजुर्वेद में सांकेतिक रूप से मिलता है । सम्भवतः यह एक प्रकार का ऐसा जन-सामान्य उत्सव होता था जिसमें स्त्रियाँ अपने मनोरंजन के लिये, कविगण प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिये धनुर्धर धनुर्विद्या का पुरस्कार प्राप्त करने के लिये और अश्वारोही दौड़-प्रतियोगिता का पुरस्कार प्राप्त करने के लिये एकत्र होते थे । यह उत्सव रात्रिमुख (सूर्यास्त) से लेकर प्रातः काल तक चलता था । इस सार्वजनिक उत्सव से तत्कालीन समाज की विभिन्न रुचियों एवं परम्पराओं का पता चलता है । ऐसा प्रतीत होता है कि आज की भाँति तब भी रात्रिकाल ही नृत्य-संगीत के लिये

1- शतपथ 13. 1. 5. 1

2- शुक्लयजुर्वेद 30. 19

उपयुक्त समझा जाता था जिससे कि यह उत्सव सायंकाल में ही आयोजित होता था। इस प्रकार वैदिक युग में प्रचलित इन कलाओं का यथाक्रम विवेचन किया जा रहा है ।

घुड़दौड़ प्रतियोगिता -

वैदिक युग में विभिन्न खेलकूदों द्वारा मनोरंजन और प्रतियोगिता का आयोजन होता था उनमें घुड़दौड़ सर्वाधिक लोकप्रिय खेल था । इस प्रकार के घुड़दौड़ का आयोजन बहुधा राजसूय संस्कार के रूप में होता था । वाजपेय यज्ञ के अवसर पर रथों में जुते हुये अश्वों की दौड़ होती थी । जिसमें यज्ञकर्ता को विजेता बनाकर खुशी में सत्रह ढोल बजाये जाते हैं और घोड़े के वेग की तुलना बाज पक्षी से की गयी है -

"उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्ण न
वेरनुवाति प्रगर्धिनः । श्येनस्येव ध्रजतो
अङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः स्वाहा"[1]

अर्थात् मार्ग में तेजी से भागते हुये तीव्र गति से सीमा को पार करने की इच्छा रखने वाले इस घोड़े के वस्त्र चामर प्रभृति पक्षी के पंखों के समान स्पष्ट ही परिलक्षित हो रहे हैं बाज के समान वेग से भागने वाले और बल के साथ मार्ग को पार करने वाले इस घोड़े के चामरादि चिह्न दिख रहे हैं ।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में घुड़दौड़ के मार्ग को "काष्ठा" और उसकी अंतिम सीमा को "परमाकाष्ठा" कहा गया है जो कि -प्रायः वृत्ताकार होता था । शुक्लयजुर्वेद में भी घुड़दौड़ के मार्ग को "काष्ठा" कहा गया है -

---

1- शु० - 9. 15

वाजिनो वाजजितोऽध्वनः स्कभ्नुवन्तो

योजना मिमाना: काष्ठा गच्छत"[1]

अर्थात् अन्न को जीतने वाले हे वेगवान अन्न जय करते हुये विक्षुब्ध करते हुये और अनेक योजनों को नापते मार्ग की अंतिम सीमा तक पहुँचो । घुड़दौड़ प्रतियोगिता का एक उद्देश्य विवाह भी होता था ऐसी स्थिति में संभवत: अनेक व्यक्ति विवाह के इच्छुक के रूप में घुड़दौड़ में भाग लेते होंगे । ऋग्वेद में वर्णन है कि एक बार घुड़दौड़ प्रतियोगिता जीतकर अश्विनीकुमारों ने सूर्या को प्राप्त किया था । इस प्रकार घुड़दौड़ प्रतियोगिता का वैदिक युग के मनोरंजन के साधनों में प्रमुख स्थान था ।

द्यूत क्रीड़ा और अक्ष क्रीड़ा -

वैदिक काल के मनोरंजनों में द्यूत-क्रीडा एवं अक्ष-क्रीड़ा का भी प्रचलन था । वेदों में अक्ष शब्द का उल्लेख हुआ है जिसको पासा या गोटी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है पासा विभीतक फल का बना हुआ होता था । द्यूत क्रीड़ा राजाओं के मनोरंजन का साधन थी परन्तु इसे राजसूय के आनुष्ठानिक क्रियायों में सम्मिलित कर दिया गया था । अग्न्याधेय एवं राजसूय यज्ञों के अवसर पर सांस्कारिक रूप में जुआ खेला जाता था ।

"अभिभूरस्येतास्ते पन्च्च दिश: कल्पन्ता"[2]

कृत संज्ञा वाले चार और कवि संज्ञा वाला एक सब मिलाकर पाँच पासे अध्वर्यु यजमान के हाथ में देवे हे सर्वविजयकारी कलि अक्ष और उस विजयी "कलि" अक्ष वाले यजमान तुम सर्वत्र व्याप्त हो पाँच कौड़ियों से आलक्षित यह पाँचों दिशायें तुम्हारे प्रयोजन को सिद्ध करने वाली होवें । ये पासे सोने के मढ़े होते थे । ऐसा प्रतीत हाता है

1- शुक्लय० - 9.13

2- शु० - 10.28

कि वैदिक युगीन समाज में द्यूत क्रीड़ा का प्रचलन था फिर भी उसको अच्छा नहीं समझा जाता था । ऋग्वेद के एक सन्दर्भ में एक पिता को अपने पुत्र को जुआ खेलने के लिये ताड़ित करते हुये दर्शाया गया है । द्यूत क्रीड़ा को वहाँ निन्दनीय कहा गया है । इससे यह प्रतीत होता है कि द्यूत को तब समाज विरोधी तथा बुरा कार्य समझा जाता था ।

आखेट -

कृषि और पशु-पालन वैदिक आर्यों की आजीविका के मुख्य साधन थे । मनुष्य अपने आदिम जीवन में मांसाहारी था फिर भी वेदों तथा वैदिक साहित्य में कहीं भी आखेट आजीविका का साधन नहीं माना गया है । किन्तु वैदिक आर्य आखेट से अपरिचित एवं अनभ्यस्त थे ऐसी बात भी नहीं है आखेट तब भी बहुप्रचलित था । मनोरंजन भोजन तथा पालतू पशुओं की रक्षा आदि अनेक उद्देश्यों से आखेट किया जाता था । आखेट के लिये सामान्यतः बाण का प्रयोग होता था । पक्षियों को जालों (पाश, निधा, जाल) में पकड़ा जाता था ऐसे शिकारियों को ऋग्वेद में "निधापति"[1] कहा गया है । पशु पक्षियों के आखेट के अतिरिक्त वैदिक युग में मत्स्य पकड़ने का भी बहुत प्रचलन था । मछुआरे दाना, शौष्कल बैन्द, कैवर्त आदि क्रियायों एवं जालों की सहायता से मछलियों को फंसाते थे ।

"वैशन्ताभ्यो वैन्दं नडवलाभ्यः
शौष्कल मार्गारमवाराय कैवर्तः"[2]

1- ऋग्वेद

2- शुक्लयजुर्वेद 30. 16

आज ही की भाँति उस युग में भी मत्स्य मारना मछुओं की आजीविका का साधन थी ।

परिधान -

वैदिक ग्रन्थों में परिधान के विषय में जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं वे इतने स्वल्प तथा विरल हैं कि उसके द्वारा हमें उस समय की दशा का पूरा परिचय नहीं मिलता है परन्तु इधर-उधर बिखरे हुये निर्देशों को एकत्र कर इस विषय कर साधारण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । वैदिक युग में अजिन तथा कुश से बने हुये वस्त्रों का प्रचलन था -

अजिन -

प्राचीन काल के परिधान की बहुमूल्य स्मृति के रूप में ही अजिन और कोश वस्त्र व्यवहृत किये जाते हैं । अजिन तथा कुश के बने हुये वस्त्र साधारण परिधान नहीं थे । ये यज्ञ के पवित्र अवसर पर तथा अभिषेक सम्बन्धी दीक्षा के विशिष्ट अवसरों पर ही पहने जाते थे । संभवतः पहले अजिन वस्त्र बकरे के चर्म का बनता था फिर बाद में हरिण चर्म का बनने लगा । वैदिक संहिताओं के अनेक मन्त्रों में मरुद्गण मृगाजिन पहने हुये वर्णित किये गये हैं । मुनि लोग भी इस परिधान का प्रयोग करते थे । शुक्लयजुर्वेद में भी रुद्र के हस्तिचर्म पहनने का वर्णन हुआ है ।

"पिनाकावसः कृतिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि"[1]

हे रुद्र पिनाक को ही शम्बल कल्पित करके हस्तिचर्म को धारण किये हुये हमें हिंसित न करते हुये और कल्याण स्वरूप होकर तुम बस उस ओर चल दो । सोम याग के अवसर पर दीक्षित यजमान को बाँस के बने मण्डप में रहने को तथा दीक्षिता यजमान

1- शुक्ल0 3. 61

पत्नी को अधोवस्त्र के ऊपर कुश के बने वस्त्र पहनने की विधि ब्राह्मणों में दी गयी है -

"कौश वासः परिधापयति"[1]

इस प्रकार कौश या अजिन यज्ञ के समय पहनेने के वस्त्र थे ।

ऊनी वस्त्र -

वैदिक आर्यों के साधारण वस्त्र ऊन (उर्णा) रेशम तथा सूत के बने हुये होते थे । सप्तसिन्धव के शीत प्रधान भाग में ऊनी वस्त्र और इतर भागों में सूती वस्त्र पहनने की प्रथा थी । सामान्यतया भेड़ के ऊन के वस्त्र का प्रचलन था । ऊनी वस्त्रों को कोमल वस्त्र कहा गयाहै -

"विष्णोः स्तुपोस्यूर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि"[2]

हे दर्भ तुम विष्णु के शिखावृन्त के समान हो ऊन के समान कोमल कम्बल करके तुम्हें वेदि पर बिछाता हूँ । राजसूय यज्ञ में राजा के अभिषेक के समय राजा रंगविहीन ऊनी परिधान धारण करता है जिसे पाण्डव कहते है -

"पाण्डव परिधापयति"[3]

वैदिक युग में बुनकर का नाम वाय था । बुनने की प्रक्रिया भी बहुत कुछ आजकल सी जान पड़ती है । सूत खूँटियों (मयूख) की सहायता से ताना जाता था ।

"सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण
उर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति"[4]

1- शतपथ - 5.2.1.8
2- शुक्ल० - 2.2.
3- " - 10.8
4- " - 19.80

अर्थात् मनोबलधारी क्रान्तद्रष्टाजन मन के द्वारा विचार करके सीसे में तंत्र को भरते हैं। पुनः उस तंत्र को ऊन के धागे में गूहते हैं। परुष्णी तथा सिंधु नदियों का प्रदेश ऊन की पैदावार तथा ऊनी शिल्प के लिये उस समय विशेष विख्यात था। सिंधु नदी अनेक स्थानों पर "सुवासा" (सुंदर वस्त्र वाली) उर्णावती विशेषणों से अलंकृत की गई है।

रेशमी वस्त्र -

रेशमी वस्त्रों का व्यवहार वैदिक यागानुष्ठान के अवसरों पर विशेष रूप से किया जाता था। शुक्लयजुर्वेद मे राजसूय यज्ञ के अवसर पर रेशमी वस्त्र पहनने का वर्णन हुआ है। राजा के पहनने का वस्त्र "तार्प्य" है -

"हे तार्प्य त्वं क्षत्रस्य यजमानस्य उल्वं गर्भ धारभूतमुदकमसि"[1]

हे रेशम या घृताक्त वस्त्र तार्प्य तुम यजमान को धारण करने वाली गर्भवेष्टिनी हो। शतपथ भी दीक्षा ग्रहण करने के अवसर पर तार्प्य वस्त्र के परिधान का नियम बताता है पर यह तार्प्य था किस चीज का बना सायण भाष्य के अनुसार यह तृण या त्रिपर्य नामक लताओं के सूत का बना रेशमी वस्त्र था। आजकल का "तस्सर" इसी का वर्तमान प्रतिनिधि प्रतीत होता है। शुक्लयजुर्वेद में "तसर" के संयोजन से बना रोहित वस्त्र का वर्णन है।

"रसं परिस्त्रुता न रोहितं नग्नहुर्धीरस्तसरं न वेम"[2]

वह सरस्वती चुवाई हुई सुरा के रस से लोहित रस बना रही थी। धीर नग्नहु (24 औषधियों का एकीकृत रूप) बुनने का वसर व वेमा था। केसरिया रंग में रंगा रेशमी परिधान अत्यंत पवित्र माना जाता था।

1- शुक्ल0 - 19.80

2- " - 19.83

सूती वस्त्र -

वैदिक ग्रन्थों में वर्णित वासस् {वस्त्र} सूत का बना हुआ कपड़ा होता था । इसमें ताना बाना के रूप में सूत बुने गये रहते थे । शुक्लयजुर्वेद में उल्लिखित शल्मलि पौधे को एगलिंग "कॉटन प्लाण्ट" मानते हैं । सूती वस्त्र के रूप में धोती पहनने का संकेत मिलता है -

"दीक्षातपसोतनूरसि तां त्वा शिवाशग्मां
परिदधे भद्रं वर्ण पुष्यन"[1]

{यजमान हाथ में धोती लेकर} हे धोती तुम कर्म में प्रवृत्त होने को दीक्षा {स्वीकृति} और कर्म में होने वाले कष्टों के सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति हो । उस तुम कल्याणी और सुखदायिनी धोती को स्वशरीर के शुभ वर्ण को द्विगुणित करते हुये मैं पहिनता हूँ । शतपथ में भी सूती कपड़े को वासस् कहा गयाहै । धार्मिक कृत्यों के अवसर पर बिलकुल नये {अनाहूतं वासः} वस्त्र धारण करने की प्रथा थी । परन्तु प्रतिदिन व्यवहार में धुले हुये सफेद वस्त्र पहने जाते थे ।

परिधान विधि -

साधारण रूप में प्राचीन भारतीय दो वस्त्रों का व्यवहार करते थे । अधोवस्त्र {निचले भाग को ढकने वाला कपड़ा धोती या साड़ी} तथा अधिवास {ऊपरी भाग को ढकने के लिये चादर या दुपट्टा} । कमर के पास धोती को बाँधने की प्रथा थी जिसे "नीवि करोति" वाक्य द्वारा अभिव्यक्त करते थे नीवि आगे की तरफ एक ही जगह बाँधी जाती थी जैसे आजकल पुरुष और स्त्री नाड़ा बाँधते हैं -

---

1- शुक्ल0 - 4. 2

"उर्गस्यङ्गिरस्यूर्णम्रदा उर्ज मयि धेहि
सोमस्य नीविरसि विष्णोः शर्मासि"[1]

मेखला को हाथ में लेकर हे मेखले तुम अंगिरस की शक्ति हो ऊन के गलीचे के समान कोमल तुम मुझमें बल धारित करो {मेखला में गाँठ लगाते हुये} हे गाँठ तुम सोमयाग सम्बन्धिनी गाँठ हो । हे वस्त्र तुम यज्ञ देवता के गृहभूत हो तुम यजमान के गृहभूत रक्षक हो । राजसूय यज्ञ के समय राजा पहले अन्तरीय पुनः अन्य परिधान तथा अन्त में अधिवास पहनता है -

"क्षत्रस्योल्लमसि क्षत्रस्य जराय्वसि क्षत्रस्य योनिरसि"[2]

हे रेशम वस्त्र रूप तार्प्य तुम यजमान को धारण करने वाली गर्भवेष्टिनी हो हे रक्त-कम्बल रूप पाण्डु तुम उस गर्भस्थ यजमान को ढ़कने वाला चर्म हो "हे कंचुक रूप अधिवास तुम यजमान को गर्भ में धारण करने वाली योनि हो । अतः यह अधिवास चोगे या अंगरखे का बोधक प्रतीत होता है । अधिकतर संभव है कि यह शरीर के ऊपरी भाग को ढकने वाला दुपट्टा था क्योंकि अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में घोड़े के ऊपर जो कपड़ा ओढ़ाते हैं उसे अधिवास कहा गया है -

"यदश्वाय वास उपस्तृणन्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै"[3]

अश्व के लिये जो वस्त्र ओढ़ाते हैं और जो वस्त्र नीचे बिछाते हैं जो स्वर्ण मुहरें इसके साथ बाँधते हैं । ऋग्वेद में अरण्य को पृथ्वी के अधिवास रूप में वर्णित करने से इसी अर्थ की पुष्टि होती है । शतपथ में "चण्डातक"[4] नामक एक भीतरी वस्त्र का वर्णन मिलता है जिसे स्त्रियाँ धारण करती हैं । वैदिक युग में सिले हुये वस्त्र का प्रचलन था

1- शुक्ल० - 4.10
2- " - 10.8
3- " - 25.39
4- शतपथ - 5.2.1.8

या नहीं इस बारे में पूर्ण जानकारी नहीं मिलती है । शुक्लयजुर्वेद में भी कहीं भी सिले हुये वस्त्र का वर्णन नहीं मिलता है परन्तु स्वर्ण, शीशा रजत से निर्मित सुई का वर्णन मिलता है -

"रजताः हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते कर्मभिः"[1]

अर्थात् चाँदी सोना तथा ताम्बे या लोहे की गुच्छीकृता सुइयाँ अश्व के शरीर में छेद करने के कर्मों के द्वारा अश्व शरीर में संयोग प्राप्त करती हैं । धन सम्पन्न ऊँचे दर्जे के पुरुष तथा स्त्रियाँ शरीर में सटने वाले सुनहले तारों से बुने "द्रापि" पहना करते थे । इस प्रकार वैदिक समाज नितान्त सभ्य तथा सुरुचिपूर्ण था ।

पगड़ी -

इन वस्त्रों के अतिरिक्त वैदिक आर्य माथे पर पगड़ी (उष्णीष) पहना करते थे । अवसरों की भिन्नता के कारण उष्णीष के बाँधने के ढंग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे । पगड़ी के अर्थ में प्रयुक्त "उष्णीष" शब्द का अर्थ "गर्मी को मारने वाला" होता है । शुक्लयजुर्वेद में गौ को बाँधने वाली रस्सी की तुलना इन्द्राणी की उष्णीष से की गयी है ।

"अदित्यै रास्नासिन्द्राण्याः उष्णीषः पूषासि धर्माय दीष्वः"[2]

हे रज्जो तुम अदिति की मेखला हो इन्द्राणी की शिरोवेष्टिनी हो (रस्सी से गाय के पिछले पैरों को बाँधना) हे बछड़े तुम पूषा हो । हे बछड़े तुम कुछ दूध धर्म के लिये शेष छोड़ दो । इससे सिद्ध होता है कि स्त्रियों का उष्णीष भी कोई लम्बी लपेटने की चीज होगी । इस मन्त्र की व्याख्या में शतपथ इन्द्र की प्रिय पत्नी होने के नाते

1- शुक्ल0 - 23.39

2- " - 38.3

इन्द्राणी के उष्णीष को "विश्वरूपतम" बताता है ।

"इन्द्राणी ह वाऽइन्द्रस्य प्रिया पत्नी तस्या उष्णीषो विश्वरूपतमः"[1]

इससे यह प्रतीत होता है कि धनाढ्य स्त्रियों के उष्णीष पर सबसे अच्छा कसीदा काढा गया होता था ।

जूता -

वैदिक काल में पैर को सरदी गर्मी से बचाने के लिये पादत्राण पहनने का अनेक बार उल्लेख मिलता है । युद्ध के अवसर पर सैनिकों के लिये पादत्राण पहनने की प्रथा थी । अथर्ववेद में उल्लिखित "पत्सङ्गणी" एक प्रकार का पादत्राण प्रतीत होता है । जूते का बोधक "उपानह" शब्द शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होता है । जूता मृग या शूकर के चर्म का बनाया जाता था । शुक्लयजुर्वेद में पलाश की लकड़ी से निर्मित खड़ाऊ का भी वर्णन मिलता है -

"द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातोमलादिव"[2]

इसके अतिरिक्त व्रात्यों के जूते कुछ विलक्षण प्रकार के होते थे । उनके जूते काले और नुकीले हुआ करते थे ।

भूषा सज्जा -

वेश विन्यास या शरीर-सज्जा के लिये वस्त्रों के अतिरिक्त केश-विन्यास और आभूषणों को धारण करने की प्रथा भी पुरातन काल से चली आ रही है । पुरातनकालीन जन-जीवन के सभी क्षेत्रों में आभूषणों के प्रति समान अभिरुचि

1- शतपथ- 14.2.1.8

2- शुक्लयजुर्वेद- 20.20

देखने को मिलती है । ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग के समाज में धातु और रत्न दोनों प्रकार के आभूषण पहने जाते थे । संभवतः धनी लोग रत्न और स्वर्ण के और सामान्य लोग तांबे घोंघे हड्डियों और मिट्टी के आभूषण धारण करते थे । ऋग्वेद में अनेक आभरणों के धारण करने का उल्लेख मिलता है जिसमें सबसे प्रसिद्ध गहना था सुवर्ण निर्मित निष्क जिसे गले में पहनते थे । गले में पहनने का दूसरे प्रकार का आभूषण सुनहलता रुक्म था जो गले में लटककर छाती को सुशोभित किया करता था । शुक्लयजुर्वेद में यज्ञ के समय यजमान के रुक्म पहनने का वर्णन मिलता है -

"दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौदुर्मर्षमायुः"[1]

इस रुक्म संज्ञक हार में सोने के 21 छोटे-छोटे ताबीज गुंथे रहते हैं । ताबीज कृष्णा-जिन के छोटे ढके रहते हैं । वे सब को एक तिलड़ी रस्सी में पिरोए रहते हैं । शतपथ में भी रुक्मपाश का वर्णन मिलता है । सुवर्ण के बने कर्णाभरण को कर्णशोभन को संज्ञा प्राप्त थी शुक्लयजुर्वेद में भी एक स्थल पर गाय के दोनों कान स्वर्ण के कहे गये हैं -

"गाव उपवतावत महो यज्ञस्य रप्सुदा उभा कर्णा हिरण्यया"[2]

हे गायों तुम हमारी रक्षा करो । महती और यज्ञ को रूप देने वाली तुम हमारी रक्षा करो जिनके दोनों कान स्वर्ण से भरे हुये हैं जो स्वर्णदात्री है । संभवतः यह कर्णाभरण का ही सूचक है । मोती और कीमती रत्नों को पहनने की प्रथा उस समय भी विद्यमान थी उस समय जब मोतियों का उपयोग घोड़े तथा रथों को अलंकृत करने के लिये किया जाता था तब बहुत संभव है कि स्त्रियाँ भी शरीर को मोतियों

1- शुक्लयजुर्वेद-12.1

2- " 33.18

को माला से अलंकृत करती होंगी । मणि को अलंकार रूप में धारण किया जाता था शुक्लयजुर्वेद में इसका प्रमाण मिलता है -

"रूपाय मणिकारः"[1]

वृत्र के अनुयायियों को सोने तथा मणियों से चमकते हुये बताया गया है ।

"हिरण्येन मणिना शुम्भमाना"[2]

स्त्रियों के कमर में पहनने वाली रास्ना का भी वर्णन मिलता है जिसे कमर में डोरी की तरह डालकर कस दिया जाता था ।

"अदित्यै रास्नासि"[3]

इसे ही आजकल कमरधनी कहा जाता है शुक्लयजुर्वेद में दक्ष वंश में उत्पन्न ब्राह्मणों द्वारा "शतानीक" नामक स्वर्णाभूषण बाँधे जाने का वर्णन मिलता है-

"यदाबन्धन्दाक्षायणा हिरण्य शतानीकाय सुमनस्यमानाः * तन्म आबन्धामि"[4]

प्रसन्न होते हुये दाक्षायणों ने जो हिरण्याभरण शतानीक को बाँधा था उसे ही मैं बाँधता हूँ । कण्ठ कर्ण वक्ष के अतिरिक्त हाथ पैरों के आभूषणों का भी वैदिक युग में प्रचलन था ।

1- शुक्लयजुर्वेद - 39.7

2- ऋग्वेद - 1.33.8

3- शुक्लयजुर्वेद- 1.30

4- " -34.52

केश विन्यास -

मन्त्रों के अनुशीलन से वैदिककालीन केश रचना की पद्धति का थोड़ा बहुत परिचय मिल जाता है । स्त्रियाँ अपने बालों को नाना प्रकार की रचनायें प्रस्तुत करती थीं । पुरुष लोग अपने बालों को जटाजूट के रूप में बाँधते थे । रुद्र तथा पूषन दोनों देवता कपर्द धारण करते थे । शुक्लयजुर्वेद में शिव के भी कपर्द धारण करने का वर्णन मिलता है

"नमः कपर्दिनें च व्युप्तकेशाय च नमः"[1]

कपर्द धारी शिव को नमस्कार है ।

"इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने
क्षयद्वीराय प्रभरामहे मती:"[2]

बलवान जटाजूटधारी तथा शत्रु के वीरों के नाशक रुद्र के लिये हम इन स्तुतियों को सम्पादित करते हैं । वैदिक युग के समाज में पुरुषों के लिये दाढ़ी-मूँछ का भी महत्व था । यद्यपि दाढी मूँछ पौरुष का द्योतक माना जाता था तथापि उन्हें शारीरिक सौन्दर्य का भी साधन माना जाता था । ऋग्वेद अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में भी दाढ़ी मूँछ दोनों के लिये "श्मश्रु" शब्द का प्रयोग हुआ है शुक्लयजुर्वेद में भी दाढ़ी मूँछ के लिये श्मश्रु" शब्द का वर्णन मिलता है -

"शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणिः"[3]

1- शुक्लयजुर्वेद - 16.29

2- " - 16.48

3- शुक्लयजुर्वेद - 20.5

यजमान कामना करता है मेरा शिर श्रीयुक्त हो । मेरा मुख यशोयुक्त हो केश और दाढ़ी दीप्ति से युक्त हो । स्त्रियों के केशपाश के रचना के बोधक "ओपश" कुरीर कुम्ब आदि शब्द वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं परन्तु इन शब्दों के विशिष्ट अर्थ का पता भाष्यकारों के अनेक प्रयत्न करने पर भी भलीभाँति नहीं चलता है । शुक्लयजुर्वेद में सिनीवाली देवी के केशरचना का वर्णन मिलता है ।

"सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा"[1]

शुक्ला प्रतिपदा की अभिमानिनी देवता सिनीवाली सुन्दर जटाजूटवाली सुन्दर जूड़ेवाली और छल्लेदार जूड़ेवाली है ।

ओपश -

स्त्रियों द्वारा धारण करने वाली यह केशसज्जा है । यह शब्द ऋग्वेद अथर्ववेद तथा शुक्लयजुर्वेद में पाया जाता है । संभवतः जब केशों को गोलाकार रूप में लपेट दिया जाता है और ऊपर से एक गाँठ बाँध दी जाती है तब इस केश रचना को ओपश कहते हैं ।

कुरीर -

ऋग्वेद के विवाह सूक्त में इस शब्द का प्रयोग किया गया है । सायण के भाष्यानुसार यह एक प्रकार का शिरोभूषण था जिसे वधू अपने उद्वाह के समय पहनती थी । उव्वट ने कुरीर का अर्थ मुकुट तथा महीधर ने शिर को सुशोभित करने वाला सुनहलता गहना किया है -

"स्त्रिभिः श्रृंगारार्थं धार्यमाणः कनकाभरणाम्"[2]

1- शुक्लयजुर्वेद - 11.56

2- शुक्लयजुर्वेद - महीधर भाष्य 11.56

अथर्ववेद में अज को कुरीरी कहा गया है । इसी कारण बहुत से विद्वानों ने शृंगाकृति केश-रचना को कुरीर माना है । इस प्रकार प्राचीन काल के जन जीवन में आभूषण परिधान विधि, केश सज्जा के प्रति जिस व्यापक अभिरुचि का पता चलता है । उसको दृष्टि में रखकर सहज ही यह अनुमान होता है कि आज ही की भाँति तब भी यह कला समाज के प्रत्येक वर्ग में प्रचलित थी । युगों और परिस्थितियों के अनुरूप उनमें परिवर्तन होते गये किन्तु उनकी परम्परा निरन्तर आगे बढ़ती रही ।

शुक्लयजुर्वेद के उपाख्यान

मानव अपनी चिंतनजन्य उद्भावनाओं तथा अनुभवजन्य प्रक्रियायों को इतिवृत्तात्मक रूप में प्रस्तुत करने का सहज अभ्यस्त रहा है । अतः किसी भी कथ्य को कहानी के माध्यम से कहने की उसकी प्रवृत्ति सनातन है । कहानी सुनना सुनाना वैदिक युग के मनोरंजन के साधनों में प्रमुख साधन था । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में जब यज्ञीय अश्व वर्ष भर मनमाना घूमता फिरता था तब प्रतिदिन "परिप्लव" नामक क्रमबद्ध कथा की आवृत्ति की जाती थी । प्रसिद्ध राजाओं के यज्ञों का विवरण इतिवृत्तात्मक रूप में सुनाया जाता था जिसे गाथा कहा जाता था । शुक्लयजुर्वेद वस्तुतः कर्मकाण्डीय संहिता है लेकिन उसमें भी यत्र तत्र आख्यानों का संकेत मिलता है । कथा कहानी के उपर्युक्त विभिन्न रूपों को स्वयं में समाहित कर अपेक्षित अर्थवत्ता को प्रतिपादित करने वाले शब्द "आख्यान एवं उपाख्यान हैं । "उप" तथा आ पूर्वक ख्या धातु में भाव में "ल्युट" प्रत्यय लगने पर उपाख्यान अथवा आख्यान शब्द बनते हैं । शब्दकोशों में उपाख्यान का पूर्ववृत्त "कथन" तथा आख्यान का कथन अर्थ मिलता है । अपने प्रमुख प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण करने के लिये ही इन उपाख्यानों की सृष्टि की गई है अतः प्रत्येक उपाख्यान का कोई न कोई यज्ञ सम्बन्धी प्रयोजन अवश्य है । अतः यज्ञ सम्बन्धी प्रयोजन तथा इनसे सम्बद्ध उपाख्यानों का विवरण नीचे दिया जा रहा है ।

आप्त्य देवों की उत्पत्ति -

शुक्लयजुर्वेद में एकत, द्वित, त्रित नामक आप्त्य बन्धुओं का उल्लेख एक मंत्र में प्राप्त होता है -

" त्रिताय त्वां द्विताय त्वैकताय त्वा "[1]

परन्तु एकत्, द्वित् त्रित नामक देवों के नाम का उल्लेख मात्र ही हमें शुक्लयजुर्वेद में प्राप्त होता है इसका आख्यान का विस्तार हमें " शतपथ" से प्राप्त होता है[2]। अग्नि पहले चार प्रकार का था । वह अग्नि जिसको पहले होता के लिये वरण किया वह भाग गया । दूसरी बार जिसको चुना वह भाग गया तीसरी बार जिसको चुना वह भाग या । इस पर आजकल जो अग्नि है वह डरकर छिप गया । वह जाकर जलों में प्रविष्ट हो गया । देवों ने उसे खोज लिया और बलात् वहां से निकाल लाये । इसपर अग्नि ने जलों पर थूक दिया और कहा कि तुम रक्षा लायक स्थान नहीं हो मेरी इच्छा के विरुद्ध ये देव मुझको तुम्हारे अंदर से खींच लाये तब उस जल में से आप्त्य देव निकले जित द्वित और एकत । वे इन्द्र के साथ फिरते रहे और जब इन्द्र ने तीन सिर वाले विश्वरूप को मारना चाहा तब वे उसके मारे जाने की बात को जान गये और जित में उसको मार डाला और इन्द्र हत्या के पाप से बचा रहा । तब लोगों ने कहा कि यह पाप उसको लगना चाहिये जो के बात यह जानते थे कि इसका बध होगा उन्होंने कहा कैसे उत्तर मिला यज्ञ उन तक पाप लगा देगा । इस प्रकार जब यह पात्री को धोते हैं और उसी जल में अध्वर्यु अपनी अंगुलिया धोता है तब यह पाप यज्ञ द्वारा आप्त्यों को लग जाता है । आप्त्यों ने कहा इस पाप को हम आगे बढ़ा दें । लोगों ने पूछा किस तक ? आप्त्यों ने कहा उस तक जो बिना दक्षिणा दिये यज्ञ करता है । अतः बिना दक्षिणा दिये यज्ञ नहीं करना चाहिये । इस उपाख्यान का मूल प्रयोजन दर्शपूर्ण मास निरूपण में अन्वाहार्य दक्षिणा की अनिवार्यता का प्रतिपादन करना है ।

---

1. शुक्लयजुर्वेद 1-23
2. शतपथ 1.2.3.1

वामन विष्णु :-

इस उपाख्यान का संकेत हमें निम्न मन्त्र से मिलता है-

"दिवि विष्णु र्व्यक्रऽस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्ते ।
अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रऽस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो
पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रऽस्त गायत्रेणछन्दसाततो निर्भक्तो[1] " ।।

जगती छन्दस्पपाद से यज्ञ देवता ने एक पग रखा । तब वहां से दुष्ट भागरहित बना दिया गया । त्रैष्टुभ छन्द रूप द्वितीय पद के द्वारा विष्णु ने अन्तरिक्ष लोक में द्वितीय पग रक्खा तब वहां से दुष्ट भाग रहित बना दिया गया । गायत्री छन्दरूप तृतीय पग के द्वारा विष्णु ने पृथ्वी को अतिक्रान्त किया । तब वह दुष्ट इस पृथ्वी पर से भाग हीन बना दिया गया । इस प्रकार इस उपाख्यान का विस्तारपूर्वक वर्णन हमें शतपथ में प्राप्त होता है । यद्यपि इस उपाख्यान का संकेत सूत्र ऋग्वेद में विष्णु के तीन डगों के रूप द्रष्टव्य है किन्तु उपाख्यान रूप में वर्णन तथा विष्णु के लिये वामन शब्द का प्रयोग शतपथ[2] में ही प्रथम बार किया गया है-

प्रजापति की सन्तान देव और असुर आपस में लड पड़े देव हार गये । असुरों ने सोचा कि अब इस पृथ्वी को परस्पर बांट ले और उस पर बस जायें । देवों ने सुना और कहा कि " अरे असुर तो पृथ्वी को वास्तव में बांट रहे हैं चलो वहां चले और वे विष्णु को अपना नेता बनाकर वे वहां गये और कहा

---

1. शुक्लयजुर्वेद

2. शतपथ 1.2.5.1

कि अपने साथ हमें भी कुछ भाग दो । असुरों ने कहा कि अच्छा हम केवल तुमको उतना ही भाग देते हैं जितने में यह विष्णु लेट सके । विष्णु तो वामन थे परन्तु देवों को भय नहीं हुआ उन्होने कहा " इस यज्ञ भर को यदि स्थान मिल गया तो बहुत मिल गया । उन्होने उस विष्णु या यज्ञ को पूर्व की ओर लिटाकर तीन ओर से छंदों से घेर दिया इस प्रकार तीनों ओर से छंदों से घेरकर अर्चना श्रम करते रहे इस प्रकार होते होते समस्त पृथ्वी ले ली अब विष्णु थक गया तीनों ओर से छंदों से बंधा हुआ था और पूर्व की ओर अग्नि था अत: वहां से भाग न सकता था । इसलिये वह ओषधियों की जड़ों में छिप गया । देव उसको खोजने लगे कि वह छंदों से बंधा हुआ था कहीं भाग नहीं सकता था अत: उसको वहीं खोदकर खोलने लगे कुछ ही खोदा था कि वह मिल गया केवल तीन अंगुल नीचे । इसलिये इस उपाख्यान में दर्शपूर्णमास निरूपण में आचार्य पान्ची द्वारा सोमयाग की वेदि तीन अंगुल रखी जाने का हेतु प्रदर्शन किया गया है ।

<u>वृत्र की आँख</u> :-

इस आख्यान का संकेत शुक्लयजुर्वेद से तथा विस्तार शतपथ ब्राह्मण[1] से प्राप्त होता है -

वृत्रस्यसि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि[2]

अर्थात् हे काजल तुम वृत्र की गिरी हुयी आँख की काली पुतली हो । तुम आँखों

---

1. शतपथ 3.1.3.11-12

2. शुक्लयजुर्वेद 4.3

को ज्योति देने वाले हो हे काजल तुम मुझे चक्षु प्रकाश प्रदान करो । शतपथ में इस उपाख्यान का विस्तार इस प्रकार है जब देवों ने असुर राक्षस को मारा तो शुष्ण दानव पीछे को लोटकर मनुष्यों की आँखों में समा गया । वहीं आँख की पुतली होकर छोटा बालक सा प्रतीत होता है । इस प्रकार यजमान यज्ञ में प्रवेश करते समय इस काजल को लगाकर मानों उस दानव के चारों ओर पत्थर की दीवारखड़ी कर देता है । क्यों कि यह जो सुरमा या काजल है त्रिककुद पहाड़ का सुरमा है । जब इन्द्र ने वृत्र को मारा तब उसकी आँख की जो पुतली थी उसका त्रिककुद पहाड़ बना दिया । इसलिये त्रिककुद पर्वत से सुरमा लावे यदि त्रिककुद पर्वत का सुरमा न मिले तो किसी अन्य स्थान से ही सुरमा लावे क्यों कि सुरमों का फल एक ही है ।

पुरूरवा उर्वशी उपाख्यान :-

पुरूरवा उर्वशी आदि ऐसे उपाख्यान है जिनका मूल स्रोत संहिताओं में तथा विकसित स्वरूप पुराणों में है । 2[1] के निम्न मन्त्र से इस उपाख्यान का संकेत मिलता है-

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ
उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि ।

हे पत्थर खण्ड तुम अग्नि के उत्पादक हो दो दर्भों को लेकर हे दर्भों तुम अत्यंत

---

1. शुक्लयजुर्वेद 5.2

समर्थ हो । हे अग्नि मंथन की नीचे की शमी अरणि तुम उर्वशी हो तुम आयु देने वाली हो । हे ऊपर की अरणि तुम पुरूरवा हो । इसका विस्तार हमें शतपथ के ग्यारहवें काण्ड में मिलता है -

अप्सरा उर्वशी इडा के पुत्र पुरूरवा से प्रेम करने लगी और पुरूरवा से विवाह के उपरान्त कहा कि तीन बार से अधिक तुम मेरा आलिंगन मत करना तथा मैं तुमको नंगा न देखूं । वह बहुत दिनों तक पुरूरवा के साथ रही और गर्भवती हो गयी । तब गन्धर्वों ने कहा कि वह उर्वशी बहुत दिनों तक मनुष्यों में रही । कोई ऐसा उपाय करो कि यह फिर हमारे बीच में वापस में आ जाये उर्वशी के चारपाई से एक भेड दो बच्चों सहित बधी रहा करती थीं गन्धर्व उनमें से एक मेमने को चुरा ले गये । इस पर उसने कहा कि ये मेरे पुत्र के लिये जा रहे हैं मानो यह स्थान जनरहित है तब पुरूरवा ने सोचा कि जहां मैं हूं वह स्थान वीररहित और जनरहित कैसे हो सकता है । वह नंगा होने पर भी पीछे भागा उसी समय गन्धर्वों ने बिजली उत्पन्न कर दी और उर्वशी ने उसे दिन के समान नंगा देख लिया वह उर्वशी झट लुप्त हो गयी । पुरूरवा विलाप करता हुआ कुरू क्षेत्र में फिरता रहा । वहां पर एक झील थी वहां अप्सराये हंस के रूप में तैर रही थी उर्वशी ने उसको पहचान कर पुरूरवा के सामने प्रकट हो गयी । उस उर्वशी ने कहा आज से साल भर पीछे अन्तिम रात्रि में मेरे पास आना तब वह गया फिर उर्वशी ने उससे कहा कि " कल सुबह गन्धर्व तुमको वर देगें तब तुम यह वह मांगना कि मैं तुममें से एक हो जाउं गन्धर्वों ने दूसरे दिन उसको वर मांगने को कहा तो उसने मांगा कि मैं आप जैसा हो जाउ । वे बोले कि मनुष्यों में अग्नि का वह यज्ञ योग्य रूप नहीं है जिसमें यज्ञ करके कोई हममें से एक हो

इसके उन्होने थाली में अग्नि रखकर दो और कहा कि इसमें यज्ञ करके तुम हममे से एक हो जाओगे । पुरूरवा ने वह आग और पुत्र ले लिया और चला आया इतने में ही वह अग्नि लुप्त हो गयी और वह अग्नि अश्वत्थ वृक्ष बन गया । देवता बोले इस अश्वत्थ की तीन समिधाये घृत में डुबोने से जो अग्नि जलेगी तो वह वहीं अग्नि होगी जिसकी तुझे आवश्यकता है । उसने अश्वत्थ की उत्तराधि बनाई अश्वत्थ की ही अधराणि बनाई इसीलिये अश्वत्थ की उत्तराणि तथा अश्वत्थ की ही अधराणि बनावे ।

वाणी का सिंहनी रूप :-

शुक्लयजुर्वेद में वाणी का सिंहनी रूप में उल्लेख मिलता है -

सिंहमसि सपत्नसाही देवेभ्य: कल्पस्व[1]

हे वाक् तुम शत्रुओं को अभिभूत करने वाली सिंहनी हो । सिंहनी रूप में उसका क्रोध शतपथ का यह आख्यान[2] प्रकट करता है । पहले प्रजा दो प्रकार की थी आदित्य और अंगिरा । सबसे पहले यज्ञ का आरम्भ किया और अग्नि से बोले आदित्यों से कह दो कि कल हमारे सोम-याग में शामिल हों आदित्य बोले ऐसी तरकीब करो कि अंगिरा लोग हमारे यज्ञमें आवें न कि हम उनके में जाये । उन्होने सोचा कि इसकी तरकीब केवल यज्ञ ही है और उन्होने यज्ञ की सामग्री तैयार की और अग्नि से बोले हे अग्नि तूने तो हमको कल के सोम योग का बुलावा दिया है हम तो तुझको और अंगिरों को आज के ही सोम

---

1. शुक्लयजुर्वेद 5.10

2. शतपथ 3.5.1 13-21

याग का न्योता देते हैं तू हमारे लिये होता बन और उन्होने किसी को अंगिरों के पास भेजा । इस पर अंगिरों ने अग्नि पर क्रोध किया कि जब तू हमारा दूत थी तो तूने हमारा आदर क्यों नहीं किया इस पर अग्नि ने कहा कि निर्दोष लोगों ने मेरा वरण किया और निर्दोष लोगों द्वारा वरी जाकर मैं उनका कहना टाल न सकी और इस प्रकार आदित्यों के सोम याग को उसी दिन कराया । उन्होने वाणी की दक्षिणा दी । उन्होने उस वाणी को स्वीकार नहीं किया अतः वाणी उनसे नाराज हो गयी और सिंहनी बनकर उन दोनों देव और असुरों के बीच में जो कुछ मिला उसको खाने लगी तब देवों ने उसको बुलाया और असुरों ने भी । देवों के पास आने की इच्छा करती हुयी वह बोली " यदि मैं तुम्हारी ओर आ जाउं तो मुझे क्या मिलेगा देवे बोले तेरे लिये अग्नि से भी पूर्व आहुति मिलेगी । अत: वह देवों के पास चली गयी । प्रस्तुत उपाख्यान यह बताता है कि अंगिरा प्रथम यज्ञकर्ता थे उन्होने आदित्यों को यज्ञ करना सिखाया ।

<u>वाणी द्वारा सोम का आहरण :-</u>

इस उपाख्यान का संकेत हमें निम्न मन्त्र से प्राप्त होता है -

चिदसि मनोसि धीरसि

दक्षिणासि क्षत्रियासि

यज्ञियास्यदितिरस्युभयत: शीर्ष्णी

सा न : सुप्राचीसुप्रतीच्येधि ।।[1]

हे सोम को खरीदने वाली वाक् तुम्हीं हमारा मन हो चित्त हो धारण शक्ति

---

1. शुक्लयजुर्वेद 4.19

हो । हे गाय तुम दक्षिणा हो यज्ञ में दक्षिणा रूप में देय द्रव्यस्वरूपा हो हे वाक्
तुम यजमान और सोम विक्रयणी दोनों के शिरों से निकलने वाली हो । वह तुम
प्रथम हमारी ओर से सीधे सोम विक्रयणी की ओर जाने वाली होकर और पुन:
उधर से सोम क्रय के साथ लौटने वाली होकर अभिवृद्धि को प्राप्त होओ । इसका
विस्तार हमें शतपथ[1] से प्राप्त होता है- सोम द्यौलोक में था और देव यहां पृथिवी
पर थे । देवों ने चाहा कि सोम हमारे समीप आ जाये तो उसके द्वारा यज्ञ करें ।
उन्होने दो माया बनाई सुपर्णी और कद्रू उनके लिये गायत्री सोम के पास उड़ गयी
जब वह उसे ला रही थीं तो गन्धर्व विस्वावसु ने उसे चुरा लिया देवताओं ने जान
लिया कि सोम अब द्यौलोक में नहीं है गन्धर्वों ने इसे चुरा लिया उन्होने कहा कि
गन्धर्व लोग को स्त्रियां प्रिय है उनके पास वाणी को भेज दे वह सोम के साथ हमारे
पास चली आवेगी । उन्होने वाणी को भेजा वह सोम को लेकर चली आयी । गन्धर्व
उसके पीछे पीछे आये और कहने लगे कि " सोम तुम्हारा और वाणी हमारी । देवों
ने कहा अच्छा परन्तु यदि वह यां आना चाहे तो जबरदस्ती न ले जाओं उसको
राजी करो । इस प्रकार उन्होने उसे राजी करना चाहा गन्धर्वों ने उसके लिये
वेदों का पाठ किया और कहने लगे कि हम इस प्रकार बजायेगे हम इस प्रकार तुझे
प्रसन्न करेगें वह देवों के पास चली आयी क्यों कि जो लोग स्तुति या प्रार्थना
करते हैं उनसे हटकर गाने बजाने वालों के पास आ गयी इसीलिये स्त्रियां आज तक
व्यर्थ बातों में फंसी रहती है । जैसा वाणी ने किया वैसे ही अन्य स्त्रियां भी करती

---

1. शतपथ 3.2.4.1

है जो गाता बजाता है उसी पर वे मोहित हो जाती हैं। इस प्रकार सोम और वाणी दोनों देवों को मिल गये। सोम को खरीदा इसलिये जाता है कि अपनी सम्पत्ति से यज्ञ किया जा सके। यदि बिना खरीदे सोम से यज्ञ किया तो मानो नाजायज सम्पत्ति से यज्ञ किया गया।

असुर नमुचि तथा इन्द्र -

इस उपाख्यान का संकेत शुक्लयजुर्वेद में मिलता है शतपथ[1] में हम उस संकेत सूत्र के विकसित स्वरूप के दर्शन करते हैं। शुक्लयजुर्वेद में संकेत मिलता है।

प्रत्यस्तं नमुचे: शिर:[2]

सीसरूप में नमुचि असुर का सिर दूर फेंक दिया गया। नमुचि एक असुर था। इन्द्र ने उसको मारा और पैर से उसका सिर ठुकरा दिया। वह जो कुचला हुआ सिर सूज गया यही उदवड्•क है ? उसने अपने पैर से उसका सिर छेदा है उससे एक राक्षस उत्पन्न हुआ। वह चिल्लाकर कहने लगा कहां जायेगा ? उनसे कहा बचेगा। उसने उसको सीसे से भार भगाया। इसलिये सीसा कोमल होता है क्योंकि उसने समस्त बल से {राक्षस को} मारा इसलिये उसका जोर निकल गया। इसलिये यद्यपि सीसा सोने के रूप का होता है परन्तु उसका कोई मूल्य नहीं है क्योंकि उसने समस्त बल लगाकर राक्षस को मारा। इन्द्र ने इस प्रकार सब राक्षसों को मारा। इसी प्रकार यह राजा भी राक्षसों को मार भगाता है।

---

1. शतपथ 5•4•1•9
2• शुक्लयजुर्वेद 10•14

शण्ड तथा मर्क-

शुक्लयजुर्वेद में इस आख्यान का संकेत प्राप्त होता है परन्तु इसका विस्तार हमें शतपथ[1] में प्राप्त होता है ।

" उपयाम गृहीतोऽसि शण्डाय त्वैषतेयोनि वीरता पाहि "[2]

हे शुक्र ग्रह तुम उपयाम के द्वारा ग्रहण किये गये हो । हे ग्राम में तुम्हें शण्ड के निकालने के निमित्त ग्रहण करता हूँ । यह तुम्हारा स्थान है । हे ग्रह तुम यजमान के निमित्त वीर के समान आचरण करो । शण्ड और मर्क दो असुर राक्षस हैं । जब देवों ने असुर राक्षसों को मार भगा दिया तो वे इन दोनों को न भगा सके । देवता जो कुछ करते ये दोनों उनमें विघ्न डालते और फिर झट से भाग जाते । तब देवों ने कहा- क्या तुम कोई उपाय कर सकते हो कि इन दोनों को भगा सके ? वे कहने लगे इन दोनों के लिये दो ग्रह ले । वे इन दोनों को लेने के लिये आवेगे । हम इनको पकड़कर मार भगायेगे । उन दोनों के लिये ग्रह लिये और जब वे आये तो उनको पकड़कर मार भगाया । इसलिये शण्ड और मर्क लिये ये दो ग्रह लिये जाते हैं और देवताओं के लिये इनकी आहुति दी जाती है । मूलत: इस आख्यान का प्रयोजन सोमयाग में शुक्र एवं मंथी ग्रहों के ग्रहण का हेतु- प्रदर्शन करना है ।

उपर्युक्त उपाख्यानों के कथ्य तथा स्वरूप के अवलोकन से यही भी स्पष्ट है

1• शतपथ 4•2•1•4-6

2• शुक्लयजुर्वेद 7•12

कि इनमें एक ओर जहां सृष्टि प्रक्रिया की प्रतीकात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है वही दूसरी ओर यज्ञ- विधाओं की अर्थगर्भिता को निरूपित करने का प्रयत्न भी किया गया है । अधिकांश उपाख्यानों का मूल ढाँचा देवासुर संग्राम तथा प्रजापति द्वारा सृष्टि रचना के तत्वों पर आधारित है किन्तु सूक्ष्म संकेत रूप में इन उपाख्यानों में ऐतिहासिक तथ्य भी पाये जाते हैं संहिता साहित्य में बीज रूप में अंकुरित विचार ही प्रतीकात्मकता तथा कल्पनात्मकता से मंडित होकर क्रमशः समृद्ध एवं रोचक उपाख्यानों के रूप में विकसित हो गये ।

उपसंहार

शुक्लयजुर्वेद मूलतः कर्मकाण्डीय ग्रन्थ है । किन्तु शुक्लयजुर्वेदीय धर्म एवं धार्मिक आस्था सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण के पश्चात् यह कहना उचित प्रतीत होता है कि शुक्लयजुर्वेद में यद्यपि धर्म के कर्मकाण्डीय पक्ष का निरूपण अधिक है किन्तु आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों तथा सामान्य आस्थाओं ने भी उस निरूपण में संग्रथित होकर धर्म का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत कर दिया है जो यज्ञमूलक धर्म की सामर्थ्य एवं शक्तिमत्ता का द्योतक है । यज्ञ द्वारा अभीष्ट प्राप्ति की श्रद्धा ने याज्ञिक कर्मकाण्ड को लोकप्रिय बना दिया था । ऋत्विगवर्ग की कुशाग्र बुद्धि ने यज्ञ-विधियो एवं क्रियाओं में विभिन्न परिवर्तन और परिवर्धन कर लोकबुद्धि को यज्ञमूलक धर्म की ओर इस प्रकार संवलित किया कि प्रारम्भिक देवाराधन का साधन तथा पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति प्रक्रिया का दार्शनिक आधार यज्ञ क्रमशः श्रौत स्मृति एवं गृह्य यज्ञ की धाराओं में प्रवाहित होता हुआ गीता के तपोयज्ञ, प्राणयज्ञ एवं ज्ञानयज्ञ जैसे यज्ञों को भी समेटता हुआ चला गया तथा आज सहस्त्रों वर्ष बाद भी गृह्य-संस्कारों के रूप में भारतीय जनता की धर्म प्राणता को यथावत् बनाये हुये है । शुक्लयजुर्वेद में अन्य अनेकानेक विषयों की भाँति उन आचरिक नियमों का भी अत्यंत सुंदर ढंग से वर्णन हुआ है जो हमें सदाचार के मार्ग पर लाकर खड़ा कर देते हैं । यद्यपि शुक्लयजुर्वेद में अनेक स्थानों पर आचार सम्बन्धी नियमों का स्पष्ट उल्लेख न होते हुये भी देवों की स्तुति और प्रार्थना में वे संकेतित है । देवों का जैसा आचरण वर्णित है वही मनुष्य मात्र के लिये आदर्श-रूप है ।

वैदिक युग का सामाजिक जीवन पारस्परिक एकता, सहयोग, सद्भाव और संगठन पर आधारित था । प्रत्येक व्यक्ति पारस्परिक कर्तव्यों के निर्वाह के लिये आबद्ध था । सारा समाज एक परिवार के बन्धन में बँधा हुआ था ।

इसका स्पष्ट उल्लेख यजुर्वेद में देखने को मिलता है । वैदिक युग में स्त्री का वास्तविक स्वरूप "पत्नी" ही माना गया है । पत्नी द्वारा यज्ञ की अनेक क्रियाओं का सम्पादन किया जाता था । जाया ही हविष्कृत बनाती थी । अनेक स्थलों पर वह श्री सम्बोधन द्वारा सम्मानित की गई है । इस प्रकार तत्कालीन आर्यों के विचारों में दृढ़ता एवं स्पष्टवादिता की झलक प्रत्यक्ष दृष्टिगत है ।

वैदिक युग की न्याय और शासन व्यवस्था धर्म पर आधारित थी । समाज और राजा दोनों धर्म द्वारा शासित होते थे । शासन व्यवस्था में सहयोग देने के लिए अधिकारियों का एक संगठन होता था जिसे रत्निन् कहा जाता था । राज्य संस्था के गठन, उद्देश्य, क्रिया-कलाप तथा उसके अधिकारों के अध्ययन से प्रत्यक्ष है कि उस समय राज्य संस्था का पूर्वापेक्षा विकसित स्वरूप उभर कर आया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक समस्या का आधुनिक अर्थ में अपेक्षाकृत अभाव होते हुए भी वैदिक आर्य अर्थव्यवस्था के संचालन तथा आर्थिक व्यवहार के नियमों से अनभिज्ञ नहीं थे । ऋषियों द्वारा जो मानव व्यवहार के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में उपदेशादि दिए हैं उन्हीं में हमें आर्थिक व्यवहार के नियमों की झाँकी भी मिलती है । वनस्पति तथा पशुपक्षी का शुक्लयजुर्वेदीय विवरण तत्कालीन भारतीयों के वनस्पति तथा पशु-पक्षी के घनिष्ट संपर्क तथा तत्सम्बन्धित विस्तृत ज्ञान का प्रकाशक है ।

शुक्लयजुर्वेद में दार्शनिक विचारधारा भी प्रवाहित होती है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण शुक्लयजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है यह ईश उपनिषद है इसमें केवल 18 मन्त्र हैं इसमें ब्रह्म के स्वरूप के वर्णन के अनन्तर विद्या-अविद्या तथा सम्भूति-असम्भूति का विवेचन है ।

सृष्टि तथा संवत्सर विज्ञान-सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण इस बात का द्योतक है कि उस वैज्ञानिक साधन-विहीन युग में केवल सूक्ष्म निरीक्षणों द्वारा इतने अधिक निष्कर्षों का यथातथ्य चित्रण उनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है ।

निष्कर्ष यह है कि आज जिसे हिन्दू संस्कृति कहा जाता है वह वैदिक संस्कृति का ही रूपान्तर है । वैदिक संस्कृति में वैदिकों के अतिरिक्त अवैदिकों का भी बुद्धि, साहस, आचार और धर्म, कर्म का समन्वय है । इन्हीं समन्वयात्मक आदर्शों का समावेश हिन्दू संस्कृति में देखने को मिलता है । वैदिक युग के बाद भारतीय समाज में विभिन्न जातियों का मेल होता गया । उनके आचार विचार को भी अपने में समाहित कर परम्परागत वैदिक संस्कृति हिन्दू संस्कृति के नाम से विश्रुत हुई ।

सहायक ग्रन्थों की सूची

ऋग्वेद (सायण भाष्य) पाँच भाग	वैदिक संशोधन मण्डल पूना, 1933
ऋग्वेद संहिता (आठ भाग) (सरल हिन्दी टीका सहित)	टीकाकार पं० राम गोविन्द त्रिवेदी वेदान्त शास्त्री और पं० गौरीनाथ आ व्याकरण तीर्थ।
अथर्ववेद	एस० पी० पण्डित मुम्बई, 1895
अथर्ववेद संहिता (वेदार्थबोधिनी) (हिन्दी व्याख्या)	डॉ० राम कृष्ण शास्त्री (हिन्दी व्याख्याकार) चौखम्भा ओरियंटालिया, 1977
शुक्लयजुर्वेद संहिता (उवट महीधर भाष्य हिन्दी व्याख्या)	डॉ० रामकृष्ण शास्त्री चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, 1992
यजुर्वेद (वाजसनेयि संहिता)	जगदीश लाल शास्त्री मोतीलाल बनारसीदास, 1961
यजुर्वेद (वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल)	श्रीपाद दामोदर सातवलेकर पारडी, 1983 (चतुर्थ सं०)
सामवेद-संहिता	पं० रामस्वरूप शर्मा गौड़ मुरादाबाद, 1929
अष्टाध्यायी (पाणिनि)	श्रीशचन्द्र वसु मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
ऐतरेय ब्राह्मण (सायण भाष्य)	आनन्दाश्रम ग्रंथमाला पूना, 1931
गोपथ ब्राह्मण	राजेन्द्रलाल मिश्र तथा एच०विद्याभूषण कलकत्ता, 1881
तैत्तिरीय ब्राह्मण	राजेन्द्रलाल मिश्र कलकत्ता, 1855

तैत्तिरीय संहिता (सायण भाष्य)	आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज पूना, 1963
शतपथ ब्राह्मण	
महाभारत	सं० पी०सी०राय, कलकत्ता, 1881
श्रीमद्भगवद् गीता	गीताप्रेस, गोरखपुर
रामचरित मानस	गीताप्रेस, गोरखपुर
प्राचीन भारतीय शासन पद्धति	अल्टेकर
वैदिक साहित्य और संस्कृति	बलदेव उपाध्याय शारदा मंदिर काशी, काशी, 1958
वैदिक धर्म एवं दर्शन	ए०बी०कीथ अनुवादक डा० सूर्यकान्त मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965
प्राचीन भारतीय मनोरंजन	मन्मथ राय भारती विद्याभवन, इलाहाबाद, 1959
हिन्दू सभ्यता	राधाकुमुद मुकर्जी अनुवादक वासुदेवशरण अग्रवाल राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1955
संस्कृत साहित्य का इतिहास	मैक्डानल अनुवादक चारुचन्द्र शास्त्री चौखम्भा वाराणसी, 1962
वेदत्रयी परिचय	पं० सत्यव्रत सामश्रमि भट्टाचार्य अनुवादक डॉ० ओम प्रकाश पाण्डेय हिन्दी भवन लखनऊ, 1975
वैदिक इंडेक्स (दो भाग)	मैक्डानल तथा कीथ अनु० रामकुमार राय चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1962
वैदिक तथा वेदोत्तरकालीन प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र	टी०बी० सिंह टी०एस०पपोला लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1982

आर्य-जीवन दर्शन	श्रीमोहन लाल महतो वियोगी बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1961
वैदिक संहिताओं में आचार मीमांसा	डॉ० प्रतिभा रानी, परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, 1989
निरुक्त	स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजकोविद्यामार्तण्ड: आर्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर
छान्दोग्य उपनिषद्	जोसेफ प्रेस, त्रिवेन्द्रम, 1981
नाट्य शास्त्र	श्री बाबू लाल शुक्ल, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी
मार्कण्डेय पुराण	श्रीरामशर्मा आचार्य, जन जागरण प्रेस, मथुरा, 1967 प्रकाशन संस्कृत संस्थान बरेली
मनुस्मृति	श्री कुल्लूकभट्टविरचितया, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी
वैदिक संस्कृति के मूलतत्व	सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
तैत्तिरीय ब्राह्मण	श्रीमत्सायणाचार्य, आनन्दाश्रम मुद्रणालय,